

अध्यात्मसहस्री प्रवचन पञ्चम भाग

सहजानंद शास्त्रमाला

# अध्यात्मसहस्री प्रवचन

पञ्चम भाग

रचयिता

अध्यात्मयोगी, न्यायतीर्थ, सिद्धान्तन्यायसाहित्यशास्त्री  
पूज्य श्री क्षु० मनोहरजी वर्णी “सहजानन्द” महाराज

प्रकाशक

श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर, इन्दौर

Online Version : 001

## प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक 'अध्यात्मसहस्री प्रवचन पञ्चमभाग' अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी की सरल शब्दों व व्यवहारिक शैली में रचित पुस्तक है एवं सामान्य श्रोता/पाठक को शीघ्र ग्राह्य हो जाती है। श्री सहजानन्द शास्त्रमाला सदर मेरठ द्वारा पूज्य वर्णीजी के साहित्य प्रकाशन का गुरुतर कार्य किया गया है।

ये ग्रन्थ भविष्य में सदैव उपलब्ध रहें व नई पीढ़ी आधुनिकतम तकनीक (कम्प्यूटर आदि) के माध्यम से इसे पढ़ व समझ सके इस हेतु उक्त ग्रन्थ सहित पूज्य वर्णीजी के अन्य ग्रन्थों को <http://www.sahjanandvarnishashtra.org/>वेबसाइट पर रखा गया है। यदि कोई महानुभाव इस ग्रन्थ को पुनः प्रकाशित कराना चाहता है, तो वह यह कम्प्यूटर कॉपी प्राप्त करने हेतु संपर्क करे।

इस कार्य को सम्पादित करने में श्री माणकचंद हीरालाल दिगम्बर जैन पारमार्थिक न्यास गांधीनगर इन्दौर का पूर्ण सहयोग प्राप्त हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रकाशन हेतु श्री सुरेशजी पांड्या, इन्दौर के हस्ते गुप्तदान रु. 3000/- प्राप्त हुए, तदर्थ हम इनके आभारी हैं। ग्रन्थ के टंकण कार्य में श्रीमती मनोरमाजी, गांधीनगर एवं प्रूफिंग करने हेतु कु. प्रतीक्षा जैन, गांधीनगर इन्दौर का सहयोग रहा है – हम इनके आभारी हैं।

सुधीजन इसे पढ़कर इसमें यदि कोई अशुद्धि रह गई हो तो हमें सूचित करे ताकि अगले संस्करण (वर्जन) में त्रुटि का परिमार्जन किया जा सके।

विनीत

विकास छाबड़ा

53, मल्हारगंज मेनरोड़

इन्दौर (म०प्र०)

Phone-0731-2410880, 9753414796

[Email-vikasnd@gmail.com](mailto:Email-vikasnd@gmail.com)

[www.jainkosh.org](http://www.jainkosh.org)

शान्तमूर्तिन्यायतीर्थ पूज्य श्री मनोहरजी वर्णी“सहजानन्द” महाराज द्वारा रचित

## आत्मकीर्तन#

हूँ स्वतंत्र निश्चल निष्काम। ज्ञाता दृष्टा आत्मराम॥टेक॥

मैं वह हूँ जो हैं भगवान, जो मैं हूँ वह हैं भगवान।  
अन्तर यही ऊपरी जान, वे विराग यह राग वितान॥

मम स्वरूप है सिद्ध समान, अमित शक्ति सुख ज्ञान निधान।  
किन्तु आशावश खोया ज्ञान, बना भिखारी निपट अजान॥

सुख दुःख दाता कोई न आन, मोह राग रूप दुःख की खान।  
निज को निज पर को पर जान, फिर दुःख का नहीं लेश निदान॥

जिन शिव ईश्वर ब्रह्मा राम, विष्णु बुद्ध हरि जिसके नाम।  
राग त्यागि पहुँचू निजधाम, आकुलता का फिर क्या काम॥

होता स्वयं जगत परिणाम, मैं जग का करता क्या काम।  
दूर हटो परकृत परिणाम, 'सहजानन्द' रहूँ अभिराम॥  
अहिंसा परमोधर्म

## आत्म रमण

में दर्शनज्ञानस्वरूपी हूँ, मैं सहजानन्दस्वरूपी हूँ॥टेक॥

हूँ ज्ञानमात्र परभावशून्य, हूँ सहज ज्ञानघन स्वयं पूर्ण।  
हूँ सत्य सहज आनन्दधाम, मैं दर्शन० ,मैं सहजानंद०॥१॥

हूँ खुद का ही कर्ता भोक्ता, पर मैं मेरा कुछ काम नहीं।  
पर का न प्रवेश न कार्य यहाँ, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०॥२॥

आऊं उतरूँ रम लूँ निज में, निज की निज में दुविधा ही क्या।  
निज अनुभव रस से सहज तृप्त, मैं दर्शन० ,मैं सहजा०॥३॥

# अध्यात्मसहस्री प्रवचन पञ्चम भाग

(एकाशद परिच्छेद)

(प्रवक्ता- अध्यात्मयोगी न्यायतीर्थ पूज्य श्री 105 क्षुल्लक मनोहरजी वर्णी सहजानन्द महाराज)

दश परिच्छेदों के प्रकरण का विषय बताते हुए ग्यारहवें परिच्छेद के वर्णन का ससम्बन्ध उपक्रम— इस ग्रन्थ के प्रथम परिच्छेद में जीव के हित के लिए उद्देश्य की बातें निर्णीत की हैं कि इसे अपना उद्देश्य क्या जानना चाहिये? वह उद्देश्य बताया गया है कि आत्मा का स्वाधीन सहज आनन्द लाभ हो, बस यही उद्देश्य होना चाहिए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए वस्तुत्व के अवगम की सामान्य बात कही गई है। दूसरे परिच्छेद में बताया गया है कि पदार्थ का निर्णय किन-किन उपायों से होता है, जिस निर्णय के बल पर यह आनन्द लाभ का उपाय बना सके। वे मुख्य उपाय चार बताये गए हैं- प्रमाण, लक्षण, नय और निक्षेप, इनके अलावा निर्देश, स्वामित्व आदि भी उपाय बताये गए। लक्षण, प्रमाण, नय और निक्षेपों का विशद रूप से वर्णन दूसरे, तीसरे, चौथे और 5 वें परिच्छेद में किया गया। जिसका निर्णय बताया है उसका विशद ज्ञान करने के लिए गुणों का स्वरूप छठे परिच्छेद में कहा गया है व 7 वें परिच्छेद में कहा गया है। 7 वें परिच्छेद में जीव का यथार्थ स्वरूप क्या है और उस जीव में अयर्थाथ बातें क्यों आ गयीं? इन बातों का सयुक्तिक वर्णन किया गया है, जो कि उपादान निमित्त के सम्यक्त्व के समझने पर ही सही विदित होता है। 8 वें परिच्छेद में उपादान में कार्य होने की शक्ति का विशद वर्णन किया गया है। इसी में उपादान निमित्त का सयुक्तिक वर्णन और आत्मा में उत्पन्न होने वाली प्रतिक्षण की विकार परिणति का स्वरूप बताया गया है। नवम परिच्छेद में प्रतिसमय में जो रागादिक परिणति होती है उसका स्वरूप कहा गया है। जहाँ यह भी बताया गया कि प्रतिसमय का राग अनुभव में नहीं होता तब अन्तर्मुहूर्त रागधारा उपयोग में ग्रहीत होती है, उसमें विकार का अनुभव जगता है। इतने पर भी रागपरिणति प्रतिसमय एक-एक नवीन-नवीन हुआ ही करती है। ऋजुसूत्रनय की अपेक्षा से इस विषय का भले प्रकार वर्णन किया गया। दशमपरिच्छेद में विभिन्न दृष्टियों में आत्मा का परिचय प्राप्त होने पर हित के मार्ग में चलने की बहुत सुगम प्रणाली विदित हो जाती है। यह समस्त वर्णन कर चुकने के बाद जो द्वितीय अध्याय में यह बताया गया कि पदार्थ का स्वरूप लक्षण, प्रमाण, नय और निक्षेप द्वारा होता है और साथ ही निर्देश, स्वामित्व आदिक द्वारा भी बताया गया था। अब निर्देश, स्वामित्व

आदिक उपायों से किस तरह से आत्मा की पहिचान होगी। यह बात इस 11 वें परिच्छेद में बतायी जायेगी। सो यह विषय भी विभावपरिणाम के माध्यम से बतायेंगे अर्थात् कर्मोदय का निमित्त पाकर आत्मा में जो कषायभाव होते वे किस तरह निर्देश आदिक उपायों से पहिचाने जाते है? यह वर्णन किया जायगा।

**बारह प्रकारों में कषाय का निर्देश—** इस प्रकरण में सबसे पहिले निर्देश की बात कह रहे हैं। निर्देश में यह बताना चाहिये कि कषाय क्या चीज है? विभावपरिणाम संक्षेप में यदि नाम लिया जाय तो मोह और कषाय इनका नाम लिया जा सकता है। मोह और कषाय में सर्वविभाव आ जाते हैं। मोह का भी निर्देश आदिक से वर्णन हो सकता है और कषायादिक का भी वर्णन किया जा सकता है। यहाँ कषाय के सम्बंध में वर्णन कर रहे हैं। जो वर्णन कषाय के सम्बंध में होगा वही वर्णन एक स्वरूप दृष्टि का परिवर्तन करके सबका सब मोह के वर्णन में भी होगा। कषाय क्या है? निर्देश में एक यह प्रश्न उत्पन्न होता है। कषाय का निर्देश 12 प्रकार से किया जा सकता है- नामकषाय, स्थापनाकषाय, आगमद्रव्यकषाय, ज्ञायकशरीर नोआगमद्रव्यकषाय, भावी नोआगमद्रव्यकषाय, तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्यकषाय, प्रत्ययकषाय, समुत्पत्तिकषाय, आदेशकषाय, रसकषाय, आगमभावकषाय और नोआगमभावकषाय। ये समस्त बारह प्रकार के निर्देश नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव-इन चार विधियों के अन्तर्गत हैं। निर्देश अथवा व्यवहार जिसका भी किया जाता है वह इन चार निक्षेपों के बल पर किया जाता है, तो यहाँ भी निर्देश इन चारों के बल पर कर रहे हैं। उनमें सर्वप्रथम है नामकषाय।

**नामकषाय से कषायपरिचय—** नामकषाय का सम्बंध नाम से है। कषाय के नाम हैं क्रोध, मान, माया, लोभ, इस प्रकार इन अक्षरसमूहों में जो नामकषाय है, जिस नाम के द्वारा कषायभाव वाच्य होता है उसे नामकषाय कहते हैं। यह नामकषाय नैगम, संग्रह, व्यवहार, ऋजुसूत्रनय, शब्दनय, समभिरूढ़नय और एवंभूतनय- इन सातों नयों के विषय में आते हैं अर्थात् सातों नयों के द्वारा नामकषाय का विश्लेषण किया जा सकता है। क्योंकि नाम एक स्थूल निर्देश है, जो कि उसी के अन्तर्गत सूक्ष्म-सूक्ष्म विषय ले लेकर सातों नयों के द्वारा कहा जा सकता है। जैसे- नैगमनय से जिसमें इन भावों के नाम का संकल्प किया है, जिस नाम से इसे बताया गया है उस संकल्प से इन कषायों को कहा जाता है। नामकषाय से कोई विशेष काल की बात न आयगी। चाहे वह भूत में हो, वर्तमान में हो अथवा भविष्य में हो, सभी प्रकार के कषाय नामकषाय से व्यक्त हो जायेंगे। इसी प्रकार जितने भी क्रोध, मान, लोभ आदिक हैं, जिनको इन नामों से पुकारते हैं, ये नामकषाय भी सब संग्रहीत हो जाते हैं। किसी भी प्रकार का क्रोध हो वह क्रोध नाम से संग्रहीत हो जाता है, यों ही मान, माया, लोभादिक कषायें भी मान, माया, लोभादिक नामों से संग्रहीत हो जाती हैं। इनका व्यवहार इन कषायों के वश पर होता ही है। नामकषाय से कषायों के नाम का बोध होता है, इसी प्रकार शब्द, समभिरूढ़, एवंभूत आदिक नयों की पद्धति से नामकषाय का प्रयोग किया जा सकता है। नामकषाय से कषायों का नाम के रूप में परिचय मिलता है।

**स्थापनाकषाय—** अब स्थापनाकषाय द्वारा उन कषाय अर्थों में नाम की प्रतिष्ठा की जाती है। सद्भावरूप कषाय हो अथवा असद्भावरूप कषाय हो, उन सबमें यह कषाय है। इस प्रकार की स्थापना को स्थापना कषाय कहते हैं। ये वे कषाय भाव हैं जिनको क्रोधादिक नामों से लक्षित किया गया है, मान, माया, लोभादिक नामों से लक्षित किया गया है उन्हें उस नाम से कहा है। इस नाम से कहा जाय तो इस कषाय का ग्रहण करना, इस प्रकार के कथन प्रतिष्ठित हुए हैं, इस स्थापनाकषाय से कषाय का भावरूप में परिचय होता है। केवल नामकषाय ही हो और स्थापनाकषाय न मानें तो कुछ भी व्यवहार नहीं बन सकता। आखिर व्यवहार तब ही बनता है जब यह विदित होता है कि इस नाम से यह पदार्थ कहा जाता है अन्यथा कोई कहे कि घट लावो तो सुनने वाला यों ही खड़ा रहेगा। जब वह स्थापना करने लगेगा कि घड़ा नाम इस अर्थ में प्रतिष्ठित है तब वह उस वस्तु को ला सकेगा तो केवल नामकषाय से व्यवहार न बनेगा। स्थापनाकषाय होने पर नामकषाय की सार्थकता होगी। किसी एक वस्तु का व्यवहार नाम और स्थापना हुए बिना नहीं हो सकता। स्थापनाकषाय नैगम, संग्रह व्यवहारनय का विषयभूत है। स्थापना चूँकि बुद्धि में दो पदार्थ आये तब हुआ करती है। इसमें इसकी प्रतिष्ठा करना वह और जिसमें करना वह ये दो बातें सामने हों तब स्थापना बनती है। व्यवहार में भी यदि मूर्ति में प्रभु की स्थापना की है तो मूर्ति और प्रभु ये दो बातें ज्ञान में हों तब ही तो स्थापना बनती है। यों ही स्थापनाकषाय भी दो की बुद्धि में बनती है। अमुक प्रकृति का निमित्त पाकर आत्मा में जो कषायविभाव उत्पन्न हुआ है वह तत्त्व और क्रोध, मान, माया, लोभ आदि इन शब्दों से जो यहाँ कहा जा रहा है वह शब्द, वह नाम यह दूसरा तत्त्व है। तो नाम और भाव- ये दोनों जब बुद्धि में हों तब स्थापना हो सकेगी कि इस नाम के द्वारा यह भाव कहा गया है। तो यह बात नैगम, संग्रह, व्यवहार- इन तीन नयों में सम्भव है। लेकिन ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में यह सम्भव नहीं है। ऋजुसूत्रनय केवल वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है और स्थूलरूप से उसका विषय कहा जाय तो इतना भी कह सकेंगे कि वर्तमान पर्याय संयुक्त अर्थ को विषय करता है, लेकिन विषय किया गया एक ही, वहाँ दो विषय बुद्धि में नहीं आये तो ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में स्थापनाकषाय का व्यवहार नहीं बन सकता। इस कारण स्थापनाकषाय नैगम, संग्रह, व्यवहार- इन तीन नयों का विषयभूत है, जब स्थापनाकषाय, ऋजुसूत्रनय का विषय नहीं बन सकता। तब शब्द, समभिरूढ़, एवंभूतनय का विषय तो हो ही न सकेगा, क्योंकि शब्द, समभिरूढ़ और एवंभूत, ये ऋजुसूत्रनय द्वारा बताये गए पदार्थ में और सूक्ष्मता को विषय करता है। यों स्थापनाकषाय नैगम, संग्रह, व्यवहार- इन तीन नयों का ही विषयभूत है। इसी प्रकार नामनिक्षेप और स्थापनानिक्षेप के माध्यम से कषायों का निर्देश नामकषाय और स्थापनाकषाय के रूप में किया गया।

**आगमद्रव्यकषाय से परिचित किया गया आगमद्रव्यकषाय—** अब द्रव्यनिक्षेप के माध्यम से कषाय का वर्णन करेंगे। द्रव्य में दो भेद हैं— पहिला है आगमद्रव्य और दूसरा है नोआगमद्रव्य। नोआगमद्रव्य में तीन प्रकार

होते हैं— ज्ञायकशरीरनोआगमद्रव्य, भावीनोआगमद्रव्य और तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्य। यों द्रव्य निर्देश माध्यम से चार प्रकारों में कषायों का वर्णन किया जायगा। तो उन चारों प्रकारों में प्रथम प्रकार और निर्देश के बारह प्रकारों में तीसरा प्रकार है आगमद्रव्यकषाय। आगमद्रव्यकषाय उसे कहते हैं जो पुरुष कषाय का प्रतिपादन करने वाले शास्त्रों का ज्ञाता हो, किन्तु उस शास्त्र में अनुपयुक्त हो, वहाँ उपयोग न लगा रहा हो, ऐसे पुरुष को आगमद्रव्यकषाय कहते हैं। आगमद्रव्य का अर्थ है आगम को जानने वाला पुरुष, किन्तु आगम में उपयोग न रख रहा हो उस पद्धति से आगमद्रव्यकषाय वह पुरुष है जो कषाय का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र का ज्ञाता हो, किन्तु उसमें उपयोगी न हो। द्रव्यनिक्षेप के माध्यम से जो कषायों का वर्णन चल रहा है उसमें मुख्यता द्रव्य की है। द्रव्यनिक्षेप में विशेषतया अतीत और भविष्यकाल विषय हुआ करते हैं। तो अतीत भविष्यकाल की विषमता द्रव्य की मुख्यता में ही संभव है। तो कषाय के सम्बंध में द्रव्यनिक्षेप के माध्यम से जो वर्णन चल रहा है उसमें द्रव्याधिकारी जीव की मुख्यता ली गई है, तो आगमद्रव्यकषाय उसे कहते हैं जो पुरुष कषाय के प्रतिपादन करने वाले शास्त्र के ज्ञाता तो हों, किन्तु उसमें उपयुक्त न हों। यदि उपयोगी हो गए तो वह भाव निक्षेप का विषय बनेगा, क्योंकि वर्तमान में भी उपयोग उसका चलने लगा। तो ऐसे पुरुष को आगमद्रव्यकषाय कहते हैं। ऐसा पुरुष नैगमनय, संग्रहनय और व्यवहारनय के द्वारा ही विदित किया जा सकता है। ऋजुसूत्रनय वर्तमान पर्याय को ग्रहण करता है और वर्तमान पर्याय से उपलक्षितभाव भावनिक्षेप का विषय है, द्रव्यनिक्षेप का विषय नहीं है। इस कारण यहाँ ऋजुसूत्रनय का उपयोग नहीं है।

**निर्देश से नोआगमद्रव्यकषाय के परिचित किया गया नोआगमद्रव्यकषाय—** अब नोआगमद्रव्यकषाय अर्थात् जो जीव नहीं किन्तु जीव से अतिरिक्त कुछ है उनका वर्णन करेंगे। यह वर्णन भी द्रव्यनिक्षेप के माध्यम से है लेकिन उस द्रव्यजीव के साथ रहने वाला जो बाह्य पदार्थ है उसकी मुख्यता को विषय करता है। नोआगमद्रव्यकषाय के तीन प्रकार है- ज्ञायकशरीरनोआगमद्रव्य, भावीनोआगमद्रव्य और तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्य। ज्ञायकशरीर नोआगमद्रव्यकषाय ज्ञायकशरीर को कहेंगे। यहाँ ऐसे जीव के शरीर को कहा गया, जो जीव कषाय के स्वरूप को जानने वाला है तो यहाँ जीव का शरीर ग्रहण किया गया अतएव नोआगम है किन्तु कषायस्वरूप के जानने वाले जीव के शरीर को लिया गया है, इस कारण यह ज्ञायकशरीरनोआगमद्रव्यकषाय है। दूसरा प्रकार है भावीनोआगमद्रव्यकषाय। जो जीव भविष्यकाल में कषायविषयक शास्त्र को जानेगा उसे भावीनोआगमद्रव्यकषाय कहते हैं। द्रव्यनिक्षेप का विषय अतीत भी है और भविष्य भी है। इसमें भावीकाल की मुख्यता है। जो जीव अभी कषायविषयक शास्त्र को चाहे न जान रहा हो लेकिन आगे जानेगा, ऐसे जीव को भावीनोआगमद्रव्यकषाय कहते हैं। तीसरा प्रकार है तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यकषाय जो कषायों का आधारभूत हो, किन्तु शरीर और जीव से व्यतिरिक्त हो ऐसे पदार्थ को नोआगमद्रव्यकषाय कहते हैं। इस नोआगमद्रव्य का सम्बंध तो कषाय के साथ है। वह किसी भी



प्रकार हो लेकिन यह न तो स्वयं जीव है और न जीव का शरीर है। उन दोनों से जो व्यतिरिक्त है ऐसा पदार्थ तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यकषाय कहलाता है। ये भी नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रनय के विषयभूत हैं। चूँकि यहाँ काल की विवक्षा नहीं है कि अतीत हो अथवा भावी, सो तद्व्यतिरिक्त पदार्थ इस तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यकषाय में है तो काल की अपेक्षा न होने से तीनों काल के तद्व्यतिरिक्त इस विषय में ग्रहण किये जा सकते हैं। तो अतीत और भावीकाल की अपेक्षा से तो नैगमनय घटित होगा और संग्रहव्यवहार भी घटित हो जायगा, किन्तु वर्तमान परिणमन की अपेक्षा से ऋजुसूत्रनय ही इसकी सिद्धि कर सकेगा। इस कारण तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यकषाय इन चार नयों का विषयभूत कहा गया है।

**प्रत्ययकषाय का परिचय—** अब तद्व्यतिरिक्त क्या-क्या पदार्थ हो सकते हैं? उसी के विवरण में कुछ बात कही जायगी। जिनमें प्रथम बताया गया प्रत्ययकषाय। कर्म तद्व्यतिरिक्त कहलाते हैं। कर्म न तो जीव है और न जीव का शरीर है। वरन् शरीर और जीव से व्यतिरिक्त हैं अर्थात् कर्म जीव और शरीर से भिन्न हैं किन्तु कषाय के साधनभूत हैं। कर्म का उदय आये बिना, क्रोध, मान, माया, लोभ रूपपरिणाम नहीं होते हैं। इस कारण प्रत्यय का अर्थात् कर्मप्रकृति का कषाय के साथ बहुत अधिक सम्बंध है। बल्कि इस निमित्तनैमित्तिक भाव में इतना भी कह दिया जाय तो अत्युक्ति नहीं है कि कषाय का स्वामी यह प्रत्ययकषाय है। जीव में जो क्रोध, मान, माया, लोभादिक भाव जागृत होते हैं वे तो हैं भावकषाय और आदेशकषाय। और उस कषायभाव का स्वामी है प्रत्ययकषाय अर्थात् क्रोधप्रकृति के उदय होने पर ही जीव में क्रोधभाव जगता है। क्रोध प्रकृति जब नष्ट हो जाती है तो जीव में क्रोधभाव नहीं जग सकता। तो यों क्रोधभाव का प्रकृति के साथ अन्वयव्यतिरेक है, इस कारण भावकषाय का स्वामी प्रत्ययकषाय को कह दिया जाय तो अत्युक्ति न होगी। एक दृष्टि में यह कथन ठीक बैठेगा। तो प्रत्ययकषाय का इस भावकषाय से इतना अधिक सम्बंध है। प्रत्ययकषाय किसे माना है जो उदय में आ रहे हैं, ऐसे क्रोध, मान, माया, लोभादिक प्रकृति अर्थात् उदयागतप्रकृति को प्रत्ययकषाय कहते हैं। ये प्रत्ययकषायें यहाँ नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रनय के विषय हैं। नवीनप्रत्ययकषाय का सम्बंध अथवा बन्ध भी प्रत्ययकषाय के सम्पर्क में चलता है। नवीनकर्म का जो आस्रव होता है उसका कारण कर्म का उदय है। उदयागतप्रत्यय (प्रकृति) नवीनप्रत्ययकषाय बंध का कारण है। हाँ इतनी बात अवश्य है कि उदयागतप्रत्यय नवीनबंध का कारण बन जाय, ऐसी निमित्त आने का निमित्त है भावकषाय का उदय, जिससे यह स्पष्ट अर्थ निकलता है कि जब जीव क्रोध, मान, माया, लोभादिक कषायोंरूपपरिणाम करता है तो उसके निमित्त से जिन प्रत्ययकषायों के उदय में यह भाव हुआ है उन प्रत्ययकषायों में ऐसा निमित्तपना आ जाता है कि नवीन कर्मबंध होने लगे, तो यों नवीनकर्मबंध होने का साक्षात् निमित्त है उदयागतकर्म और उदयागतकर्म में नवीन कर्मबंध का निमित्तपना आ जाय, इसमें निमित्त है जीव का भावकषाय। तो जीव का भावकषाय जिसे कर्मबन्ध के लिए निमित्त कहने की पद्धति है सो यों

पद्धति बनी कि मूल तो यह भावकषाय निमित्त हुई, क्योंकि भावकषाय न हो तो उदयागत कर्म में नवीनकर्मबंध का निमित्तपना नहीं हो सकता है। तो यों उदयागत कर्मप्रकृति प्रत्ययकषाय कहलाती है और यह प्रत्ययकषाय नैगम, संग्रह, व्यवहार और ऋजुसूत्रनय का विषयभूत है।

**समुत्पत्तिकषाय का परिचय—** निर्देशक का आठवाँ प्रकार है समुत्पत्तिकषाय, जो तद्व्यतिरिक्त नोआगमद्रव्य के प्रकाररूप में कहा जा सकता है। तद्व्यतिरिक्त का अर्थ है कि जिस जीव में कषायभाव जग रहा है उस जीव के अलावा और उस जीव के शरीर के अलावा शेष वे अन्य पदार्थ जो कषाय के उत्पन्न होने में सम्बंधित हों, चाहे निमित्तरूप से सम्बंधित हों अथवा आश्रयभूत से, वे सब पदार्थ तद्व्यतिरिक्त कहलायेंगे। इस दृष्टि से समुत्पत्तिकषाय क्या होता है? इसका वर्णन कर रहे हैं। कषाय प्रकृति के उदय में जो सहायक कारण है जिन्हें नोकर्म कहते हैं उनको समुत्पत्तिकषाय कहते हैं। जीव में कषायभाव जागृत होता है उसमें कारण है प्रकृति का उदय, किन्तु प्रकृति का उदय किसी नोकर्म का सन्निधान पाकर अपना फल देने में समर्थ होता है। जैसे किसी मनुष्य के निद्रा प्रकृति का उदय तो आया, पर निद्रा प्रकृति के उदय में सहकारी नोकर्म है, जैसे परिश्रम करके कोई थक गया हो तो वह थकान या दही आदिक पदार्थ खाया हो तो यह भी उसका नोकर्म है। तो यों नोकर्म जुटने पर निद्रा प्रकृति का उदय निद्रा का साधक बन जाता है अथवा और समझिये कि जैसे किसी जीव के क्रोध प्रकृति के उदयकाल में जीव अथवा अजीव कुछ भी पदार्थ इसके क्रोध करने के लिए विषय बना, आश्रय बना, वह समुत्पत्तिकषाय है। जीव क्रोध करेगा तो उस क्रोध में कुछ तो विषय आयेगा, जिस किसी चीज को उपयोग में लेकर गुस्सा बन रहा है ऐसी वह चीज कुछ सामने तो होगी, किसी बाह्य वस्तु का उपयोग बनाये बिना, किसी बाह्य वस्तु को विषय किए बिना कषायभाव जागृत न होंगे, उनका रूप भी न बनेगा। जैसे कोई कहे कि इस जीव ने क्रोध किया तो क्या क्रोध किया, उसका वर्णन जब भी करेंगे तो उसमें कोई बाह्यवस्तु विषय बनेगी। इस जीव पर क्रोध किया या अमुक पदार्थ पर क्रोध किया, या क्रोध करने की बात किसी बाह्यवस्तु को विषय बनाकर ही बताई जा सकती है, तो इन प्रत्ययकषायों के द्वारा जो जीव में कषायभाव का परिणाम बनेगा उसमें कोई नोकर्म होगा जो भी नोकर्म हों उन्हें समुत्पत्तिकषाय कहते हैं।

**समुत्पत्तिकषायों के आठ घटित प्रकारों में से प्रथम व द्वितीय प्रकार—** कषाय प्रकृति के उदय के फल होने में सहकारी कारण नोकर्म समुत्पत्तिकषाय कहलाते हैं। ऐसे कारण 8 प्रकार से जुट सकते हैं। पहिला प्रकार है एक जीव अर्थात् किसी जीव के क्रोध, मान, लोभ जगा हो तो वह जीव किसी एक जीव का उपयोग बनाकर कषाय बनायेगा तो वहाँ एक जीव समुत्पत्तिकषाय हुआ। किसी मनुष्य का किसी एक जीव पर ही क्रोध जग रहा है, इष्ट में बाधा आने से या अनिष्ट का समागम जुटने से एक जीव पर क्रोध जगा तो वहाँ वह एक जीव जिसको लक्ष्य में लेकर क्रोधभाव जगा है वह समुत्पत्तिकषाय बनेगा। समुत्पत्तिकषाय का दूसरा प्रकार है

एक अजीव। समुत्पत्तिकषय एक अजीव जीव भी हो सकता है। किसी मनुष्य का क्रोध एक अजीव पदार्थ पर ही बना तो एक अजीव समुत्पत्तिकषाय हुआ। जैसे कोई पुरुष घर में जा रहा था और उसके सिर में द्वार की चौखट लग गई, पीड़ा हुई, उसे क्रोध जग गया। तो वहाँ क्रोध जगने के समय में वह द्वार का चौखट ही कषायोपयोग विषयका बनी और वह है एक अजीव स्कंध, यों उसके कषाय जगने में एक अजीव आश्रय बन गया तो वहाँ एक अजीव समुत्पत्तिकषाय बन गया।

**समुत्पत्तिकषायों के आठ घटित प्रकारों में तीसरा व चौथा प्रकार—** समुत्पत्तिकषाय का प्रकार तीसरा है बहुत जीव। किसी जीव को क्रोधादिक कषायें जगें, उसमें बहुत जीव आश्रय बन सकते हैं। कोई कार्य बहुत से पुरुषों ने मिलकर किया जो कि अनिष्ट हो, तो अनिष्ट लगने के कारण इस पुरुष को उन बहुत से जीवों पर क्रोध जग जायेगा। तो यों बहुत जीव समुत्पत्तिकषाय बन गए। जैसे किसी एक काम को दूसरे पुरुषों को सौंप देते हैं, उन्होंने वह काम बिगाड़ दिया, उसमें बहुतसी हानि उत्पन्न कर दी, अब वे बहुत पुरुष क्रोध के विषयभूत बन गए तो यों कषाय में बहुत जीव भी आश्रयभूत हो जाते हैं। यों बहुत जीव समुत्पत्तिकषाय कहलाते हैं। जैसे बहुत जीव क्रोधकषाय के जगने में निमित्तभूत होते हैं, यों मानकषाय के जगने में भी होते हैं। किसी ने मानकषाय किया अर्थात् हजारों आदमियों को निरखकर जब मन में अपनी उच्चता का भाव बनाते हैं तो वहाँ मानकषाय के जगने में बहुत जीव आश्रयभूत बने, वहाँ समुत्पत्तिकषाय भी बहुत जीव बन गए। तो जैसे बहुत जीव समुत्पत्तिकषाय बनते हैं इसी प्रकार किसी घटना में बहुत अजीव पदार्थ भी समुत्पत्तिकषाय कहलाते हैं। किसी को क्रोध बहुत से अजीव पदार्थों के विषय में जग गया तो वहाँ उसके क्रोधकषाय के निमित्त में बहुत अजीव समुत्पत्तिकषाय बन बैठे। तो किन्हीं-किन्हीं घटनाओं में बहुत अजीव पदार्थ भी समुत्पत्तिकषाय भी बन जाते हैं। जैसे कोई जीव अनेक प्रकार की वस्तुवें खरीद रहा है, ये सब वस्तुवें यदि अनिष्ट आ गई, उनमें कुछ खोखा सा जँचा तो उनको लक्ष्य में लेकर क्रोधभाव करने लगता है। तो उसके क्रोध में वे बहुत से अजीव पदार्थ आश्रय बन गए। तो वहाँ ये बहुत अजीव पदार्थ समुत्पत्तिकषाय बन गये। तो यों कभी एक जीव, कभी एक अजीव, कभी बहुत जीव, कभी बहुत अजीव- इस तरह चार प्रकारों में समुत्पत्तिकषाय की उद्भूति होती है।

**समुत्पत्तिकषाय का पांचवाँ व छठवाँ प्रकार—** समुत्पत्तिकषाय का 5 वाँ प्रकार है एक जीव और अजीव। जैसे कोई योद्धा किसी शस्त्रधारी योद्धा को निरखकर क्रोध में भर जाता है तो इसके क्रोध में आने का सहकारी कारण नोकर्म वह शस्त्रधारी योद्धा है। यदि वह योद्धा शस्त्रधारी योद्धा है। यदि वह योद्धा शस्त्रहीन होता तो इसके क्रोध का विषय न होता अथवा वह जीव न होता। केवल तलवार ही पड़ी होती तब भी क्रोध का विषय न बनता, किन्तु तलवार लिए हुए सुभट योद्धा जब दिखने में आया तब यदि क्रोध उत्पन्न होता है तो वहाँ क्रोधप्रकृति के उदय में नोकर्म यह तलवार वाला योद्धा बना, सो तलवार अजीव है और वह मनुष्य

जीव है तो वहाँ क्रोधकषाय के लिए एक जीव और एक अजीव निमित्त हुआ। समुत्पत्तिकषाय का छठवाँ प्रकार है बहुत जीव और एक अजीव। कभी किसी एक अजीव पदार्थ के सम्बन्ध को लिए बहुत जीव हों और ऐसी घटना में कषाय किसी को उत्पन्न हुई तो उसके कषाय में निमित्त बहुत जीव और एक अजीव हुआ। जैसे बहुत से लोग किसी एक मकान या किसी पदार्थ का प्रश्न लिए हुए आपस में वे विवादग्रस्त हों तो ऐसी हालत में कोई निर्णायक पुरुष का जो क्षोभ होता है या उस प्रसंग में जो विचार बनता है तो उसके उस कषाय में विचार में एक अजीव और बहुत जीव निमित्त हुए, कषाय में नोकर्म पड़े तो समुत्पत्तिकषाय का एक प्रकार यह भी है कि बहुत जीव हों और एक अजीव हो। मानकषाय के उदय में तो एक ऐसी घटना बहुत आती हैं। जब किसी पुरुष को मानकषाय होने को होता है तो उसमें विषय बहुत जीव पड़ते हैं। अर्थात् बहुत से मनुष्यों में वह अपना सम्मान यश चाहता है ना तो उस मानकषाय के विषय बहुत जीव हुए और मानकषाय की पूर्ति किसी एक घटना को लेकर करना चाहते हैं तो वह एक घटना अजीव हुई, तो यों एक जीव और बहुत अजीव मानकषाय में नोकर्म हो जाता है। कोई पुरुष किसी धन वैभव आदिक अजीव पदार्थ का इच्छुक है और उसी के इच्छुक बहुत मनुष्य हैं तो वह पहिला बताया गया इच्छुक मायाचार से कोई जाल रचता है जिससे अन्य जीवों को संपत्ति लाभ नहीं हो सकता, तो उसके इस मायाचार में विषय एक अजीव रहा, किन्तु यहाँ बहुत जीव विषय पड़ गए। तो यों मायाकषाय में बहुत जीव और एक अजीव निमित्त होते हैं।

**समुत्पत्तिकषाय का सातवाँ प्रकार—** समुत्पत्तिकषाय का सातवाँ प्रकार है एक जीव बहुत अजीव। जैसे कोई कामी पुरुष किसी एक महिला पर आसक्त होता है तो वह श्रृंगार सहित हो तो उसकी आसक्ति में श्रृंगार में आये हुए अनेक अजीव पदार्थ हैं- आभूषण माला, चमकीले वस्त्र, केश आदिक ये बहुत से अजीव पदार्थ हैं और वहाँ जीव एक ही पदार्थ है तो उस घटना में इसके लोभकषाय के बनने में एक जीव और बहुत अजीव निमित्त हुए। लोभ कषाय के बनने में एक जीव और बहुत अजीव निमित्त हुए, अथवा किसी पुरुष का शुभभाव हो रहा है और वह समवशरण में दर्शन करने गया तो वहाँ भक्तिभाव के लिए साधन वहाँ एक जीव तो परमात्मा है जिसका लक्ष्य लेकर गया, पर वहाँ जब अष्टमङ्गलद्रव्य प्रातिहार्य, समवशरणरचना आदिक निरखता है तो वे शोभायें और अनेक रचनायें भी उसके भक्तिभाव की प्रगति में नोकर्म बन जाते हैं। तो यों एक जीव और बहुत अजीव एक शुभभाव में निमित्त हो गए। शुभभाव भी कषायभाव है, वहाँ उपयोग निष्कषायभाव नहीं है, मंदकषाय वाले भाव में भी अनेक बाह्य नोकर्म सहकारी कारण होते हैं और तीव्रकषाय के होने में भी अनेक बाह्य नोकर्म सहकारी कारण होते हैं। तो एक जीव और अजीव की घटना भी समुत्पत्तिकषाय बनती है।

**समुत्पत्तिकषाय का आठवाँ प्रकार व समुत्पत्तिकषाय के वर्णन का उपसंहार—** 8 वाँ प्रकार है समुत्पत्तिकषाय, कि बहुत जीव और बहुत अजीव। जैसे सैन्यचक्र की चढ़ाई सुनकर किसी राजा को विशेष क्षोभ उत्पन्न होता है तो उसके उस क्षोभ में कारण बहुत जीव और बहुत अजीव हैं। नाना प्रकार के अस्त्र-शस्त्र और नाना सुभट इनका ही समुदाय तो सैन्यचक्र कहलाता है। तो उस सैन्यचक्र के आक्रमण को सुनकर जो क्रोधादिक क्षोभ हुए उनमें निमित्त हुए बहुत जीव और बहुत अजीव। ऐसी अनेक घटनायें होती हैं जो क्रोध, मान, माया, लोभ की प्रकृति में, समुत्पत्ति में नोकर्म सहकारी कारण होता है। करणानुयोग का सिद्धान्त है कि किसी प्रकृति के उदय से जीव में विभावपरिणाम होता है किन्तु प्रकृति का उदय फलीभूत तब हो पाता कि जब उसे नोकर्म भी मिलता है। नोकर्म का फल प्रायः संसार है इसलिए ऐसी कम स्थितियाँ आती हैं कि जहाँ कर्म का उदय हो और नोकर्म सामने न हो। फिर भी प्रकृति का उदय मंद हो ऐसी स्थिति में और नोकर्म सामने न हो तो वहाँ फल में अन्तर आ जाता है। लेकिन सारा संसार ही तो नोकर्म है। जो कुछ सामने समागम में आया वही विभाव का नोकर्म बन जाता है। तो करणानुयोग के सिद्धान्त में कर्म का उदय नोकर्म का सन्निधान पाकर जीव के विभाव का निमित्त हुआ करता है। तो वहाँ जो कर्म का उदय हुआ वह तो है प्रत्ययकषाय, जिसके उदय से जीव में क्रोध, मान, माया, लोभादिक होते हैं और जो बाह्य नोकर्म सहकारी कारण पड़े वह है समुत्पत्तिकषाय। क्रोधप्रकृति के उदय में क्रोधकषाय का निर्माण होने में जो विषय हुए, आश्रय हुए वे सब समुत्पत्तिकषाय कहलाते हैं। यों समुत्पत्तिकषाय के ये सब प्रकार नैगमनय के विषयभूत हैं, क्योंकि ये सब घटनायें एक स्थूलरूप हैं, उनमें सूक्ष्मता नहीं है।

**भिन्नद्रव्यकषायों के रूपों का वर्णन—** यह कषायों का वर्णन नाम, स्थापना, द्रव्य और भाव के विचार से चल रहा है जिसमें नामकषाय, स्थापनाकषाय और द्रव्यकषाय का वर्णन किया है। द्रव्यकषाय में द्रव्य लेना है और वह द्रव्य भूतभविष्य वाला भी लिया जा सकता है। तो जहाँ भूतभविष्य वाला लिया जाता है उसमें तो यह भाव रखा कि जो कषाय के प्रतिपादन को करने वाले शास्त्रों के ज्ञाता तो हैं किन्तु अनुपयुक्त हैं, अभी उनमें उपयोग नहीं दे रहे, भावी कभी दे देंगे, जो कुछ भी हो, पर वर्तमान में अनुपयुक्त हैं वे पुरुष आगामीद्रव्यकषाय कहलाते हैं। और जो जीव आगामीकाल में कषायविषयक शास्त्र को जानेगा उसे भावीनोआगमद्रव्यकषाय कहा है। तो स्वयं द्रव्य को लिया जाय ता वह अतीत भविष्यकाल की अपेक्षा रखता है। यदि भिन्न वस्तु को लिया जाय तो उसमें काल की अपेक्षा नहीं रखी जा रही, क्योंकि वह स्वयं ही भिन्न है, स्व ये दूर हो गया, लम्बा हो गया। ऐसे भिन्न द्रव्यकषाय में तद्व्यतिरिक्तनोआगमद्रव्यकषाय, ज्ञायकशरीरनोआगमद्रव्यकषाय, प्रत्ययकषाय और समुत्पत्तिकषाय आ जाते हैं।

**आदेशकषाय का परिचय—** अब जब उपयोग पर, वर्तमान परिणमन पर दृष्टि देकर निरखते हैं तो वहाँ आदेशकषाय की बात आती है। आदेशकषाय उसे कहते हैं कि जहाँ इस तरह की बुद्धि हो कि यह कषाय है,

अथवा स्थूलरूप से समझना हो तो यों कहेंगे कि सद्भाव स्थापनाकषाय का वर्णन करना यह आदेशकषाय है। सद्भाव स्थापनाकषाय ही वह है कि जहाँ कषायभाव है वहाँ उसे कषाय नाम से कहा जाय, इसे कहते हैं “कषाय”। यों जो कषाय नाम द्वारा वाच्य है वह है यह कषाय। तो जहाँ यह कषाय है, इस प्रकार की बुद्धि हो उसे आदेशकषाय कहते हैं। आदेशकषाय के रूप में ही यह रूप अन्तर्गत हो जाता है जहाँ कि किसी पुरुष की शकल देखकर सद्भाव स्थापना का वर्णन चल बैठता है। कोई भौंह चढ़ाये हो अथवा जिसके ओंठ फड़क रहे हों, जिसकी आँखें लाल हो गई हों, जिसका चेहरा विकृत हो गया हो, बोल भी स्पष्ट न निकलता हो, ऐसी स्थिति में क्रोधकषाय का एकदम रूप सामने रहता है और उस समय दर्शक लोग यों कहते कि देखो यह तो विकट क्रोध में आ गया है। तो जहाँ कषायभाव पहिचान लिया जाय वह है आदेशकषाय नैगमनय का विषय है क्योंकि वह संकल्प में आने पर विदित होता है और उसमें एकदम वर्तमान समय की पर्याय का रूप नहीं आता। एक समय की क्रोध आदिक कषाय विकाररूप बन सके, ऐसा उपयोग नहीं बना सकते हैं। उपयोग चूँकि अन्तर्मुहूर्त में पदार्थ को स्पष्ट ग्रहण कर पाता है तो आदेशकषाय में भी केवल एक समय मात्र का ग्रहण नहीं हो पाता, अतएव वह नैगमनय का विषय है। कषायों में यह कषाय है, इस प्रकार की बुद्धि होना अथवा कषाय करने वाले जीव के शरीर की विकृत चेष्टा निरखकर यह निरखना कि यह है कषाय, यह सब आदेशकषाय कहलाता है।

**कषायपरिणमन की नैमित्तिकता व स्वतन्त्रता—** कषाय चूँकि नैमित्तिकभाव है अतएव वह दूसरे के द्वारा भी चिन्हादिक के द्वारा समझा जा सकता है। ये कषायें होना आत्मा का स्वभाव नहीं है, विभाव है, क्योंकि परनिमित्त पाकर उत्पन्न होती हैं। कर्मोदय न हो तो ये कषायें नहीं हो सकती। कहीं आत्मा में स्वभावतः कषायें नहीं जगती। यद्यपि एक दृष्टि से निरखने पर यों लगता है कि पदार्थ है और पदार्थ में, जीव में कषायों की परम्परा चल गई। जब तक भी चलती हो और एक ही जीवमात्र को निरखकर कहा जा सकता है कि यह जीव रागरूप परिणमा, क्रोधरूप परिणमा, अपने ही साधन से परिणमा, अपने कारण से ही रागरूप बना, इसमें दूसरे का परिणमन नहीं है, दूसरे का सहाय नहीं है, अपने आपके चतुष्टय से ही रागादिकरूप नहीं हैं अपने आपके चतुष्टय से ही रागादिकरूप परिणम रहा है- यह बात ठीक है, एक वस्तु को निरखने पर और उसे विकाररूप निरखने पर किन्तु जब उसका सर्वतोमुखी निर्णय करने की बात कोई मन में ठान ले तो इतना कहने मात्र से काम न चलेगा, बल्कि इतना ही आग्रह कर लेने पर अनेक विडम्बनायें आवेंगी। क्योंकि जब कोई अपने ही कारण से अपने आपमें स्वयं होता है तो अब उसे मेटेगा कौन? मितेगा किस प्रकार? वह तो स्वयं होता है। आत्मा का स्वभाव होगा क्योंकि परनिमित्त हुए बिना जो बात होती रहती हो वह तो स्वभावपरिणति हो सकेगी। उसके मिटने का फिर कोई अवसर न रहेगा। तो यद्यपि एक जीव में जीव के चतुष्टय से जीव की परिणति से कषायें जगती हैं, किन्तु सर्वतोमुखी निर्णय यह है कि क्रोधादिक प्रकृतियों का

उदय होने पर उनके उदय का सन्निधान रूप निमित्त पाकर जीव स्वयं अपनी परिणति से क्रोधादिक कषायरूप परिणम जाता है। ऐसा मानने पर ही हमें हित की शिक्षा दृष्टिगोचर होगी। चूँकि ये क्रोधादिक कषायें क्रोधप्रकृति का उदय पाकर होती है, अतएव ये मेरे आधीन नहीं, इनका मैं स्वामी नहीं, इन पर मेरा कब्जा नहीं, ये मेरे स्वरूप से पृथक् हैं। होते हैं मेरे में ही परिणमन, पर मेरे स्वरूप की बात नहीं है।

**दृष्टान्तापूर्वक कषायों की नैमित्तिकता का कथन और उससे शिक्षालाभ का निर्देश—** जैसे दर्पण के सामने कोई चीज रखी हो उसका प्रतिबिम्ब आ गया। आ गया प्रतिबिम्ब और वह प्रतिबिम्ब है दर्पण का परिणमन, इतने पर भी दर्पण की स्वच्छता से ही मात्र नहीं आया। स्वच्छता एक आधार है। न हो स्वच्छता तो छाया नहीं आ सकती। भीत पर तो छाया नहीं आती, क्योंकि वहाँ स्वच्छता नहीं है, तो स्वच्छता यद्यपि छाया का आधार है किन्तु मात्र स्वच्छता से ही छाया नहीं हुई, परवस्तु का सन्निधान पाकर छायारूप परिणति हुई है तो वह छाया दर्पण की चीज नहीं है। वह हट सकती है। इसी प्रकार आत्मा में जो क्रोधादिक कषायें जगी हैं वे आत्मा के सत्त्वमात्र से नहीं हुई हैं, हुई हैं चेतना में। चेतना न हो तो क्रोध कहाँ से आयगा? तो क्रोध की झलक यद्यपि चेतना के आधार में हुई है किन्तु स्वयं अपने स्वभाव से सहज नहीं हुई है। प्रकृति का उदयरूप निमित्त पाकर हुई है। तो यह कषायभाव नैमित्तिक भाव है अतएव यह दूर किया जा सकता है। मेरे स्वभाव से मेरे में सहज नहीं हुआ है इसलिए मेरे रूप नहीं हैं, मैं इनसे निराला चैतन्यमात्र हूँ। तो ये कषायें नैमित्तिक हैं, ऐसा समझ में आने पर दो उत्साह जगते हैं- एक तो उन कषायों से हटने का उत्साह जगता है, ये मेरे स्वरूप ही नहीं है इनको हटावो, इनमें उपयोग मत दो और दूसरी प्रेरणा मिलती है स्वरूप में आने की। मैं तो इनसे निराला चैतन्यस्वरूपमात्र हूँ। ये कषायें तो नैमित्तिक हैं अतएव ये हटाई जा सकती हैं और इनसे हटकर अपने स्वरूप में आया जा सकता है। यह आदेशकषाय नैगमनय का विषय है। जो हमारी बुद्धि में आ सका है ऐसा कषायपरिणमन केवल वर्तमान समयमात्र का नहीं, किन्तु अनेक क्षणों के धाराबद्ध प्रवाहरूप है।

**रसकषाय का परिचय—** अब कषायों के निर्देश का दसवाँ प्रकार रसकषाय कहा जा रहा है। रसकषाय का अर्थ होगा रसविषयक कषायभाव। तो जीव की बुद्धि ने जिस रस को विषय किया है उस रस को रसकषाय कहेंगे। रसनाइन्द्रिय का विषय है रस, जिसके कि 5 प्रकार हैं- खट्टा, मीठा, कड़वा, चरपरा, कषायला आदि। उन रसों में बुद्धि जगती है। कषाय उन रसों को अपनाती है और लोभादिक कषायों से उन रसों को अपनी कल्पना से मिलाया जाता है। तो इस प्रकार बुद्धि जब उन रसों का ग्रहण करती है तो वह रसकषाय है। कभी क्रोध द्वारा रसकषाय का प्रारम्भ होता है, मान, माया, लोभ द्वारा रसकषाय का प्रारम्भ होता है और प्रायः करके रसकषाय लोभ द्वारा ग्रहण हुआ करता है। तो यह सब रसकषाय हैं। चूँकि रस में जब उपयोग लग रहा है और कषाय उन्हें एकमेक कर रहा है उसमें भी यद्यपि लगते हैं अनेक क्षण अर्थात् अनेक क्षण के

उपयोग द्वारा यह बात शक्य है तथापि स्थूलदृष्टि द्वारा देखा जाय तो वह वर्तमान रस का ही तो उपयोग कर पा रहा है अतएव वह ऋजुसूत्रनय का विषय कहलायेगा। तो रसकषाय उपलक्षण से अन्य भी कषाय कही जा सकती है। पञ्चेन्द्रिय के विषयभूत अर्थ है 5- स्पर्श, रस, गंध, रूप और शब्द, इन पाँचों ही विषयों के सम्बन्ध में कषायें जगती है और इन विषयों का ग्रहण जीव कभी क्रोध द्वारा करता है, कभी मान, माया, लोभ आदिक द्वारा करता है, तो रसकषाय कहकर उपलक्षण से यहाँ शेष चार कषायों का भी ग्रहण किया जा सकता है। स्पर्शकषाय, गंधकषाय, वर्णकषाय, और शब्दकषाय। कषाय से इन इन्द्रिय के विषयों को एकमेक करना और उन रूपों में अपना अनुभव उपयोग बनाना, सो यह सब रसकषाय कहलाता है। अथवा इन सभी विषयों के ग्रहण में यह जीव जब उपयोग से रस लेता है, अनुभवन करता है तो उस रस में सभी विषयों का अन्तर्भाव हो जाता है। जैसे सूत्रजी में कहा है- रूपणः पुद्गल रूपी होता है, स्थूलरूप से तो यह बात आयगी कि पुद्गल में जो रूप, रस, गंध, स्पर्श हैं उनमें से रूप का वर्णन किया है। पुद्गल रूपी होता है तो उपलक्षण से रस, गंध, स्पर्श भी ग्रहण करना पड़ता है और रूढिवशरूपी नाम मूर्तिक का भी है। जो रूप, रस, गंध, स्पर्श का पिण्ड हो उसे भी रूपी कहते हैं तो इस रूढ़ि अर्थ में रूपी का अर्थ वह पुद्गल पूरा ले लिया जाता है। उसमें रस, गंध आदिक कौन छूट गए, यह बात ग्रहण में नहीं आती। इस प्रकार रसकषाय कहकर जब रसनाइन्द्रिय के विषयभूत गुण की बात ग्रहण में लावें तो वहाँ उपलक्षण से शेष विषय और ग्रहण करें, किन्तु जब रस का रूढ़ि अर्थ लगावे कि विषयों का रस भोगा तो इस रसकषाय से पञ्चेन्द्रिय के विषय ग्रहीत हो जाते हैं। यह रसकषाय भी ऋजुसूत्रनय का विषय है।

**पर को आपारूप मानने में कष्ट की उपपत्ति—** सब जीवों को अपने आपकी जानकारी बनी रहती है, वे अपने आपकी जानकारी के अनुसार अपना-अपना अनुभवन किया करते हैं, यह बात केवल मनुष्य ही नहीं, पशु पक्षी हो, कीट हो, स्थावर हो, निगोद हो, परमात्मा हो, कोई भी जीव हो सभी अपने आपकी जानकारी बनाये हुए हैं और उस जानकारी के अनुसार जीवों में अनुभव होता है तथा हम सबका सारा भविष्य एक इस ही आधार पर है कि हम अपनी कैसी जानकारी बना रहे हैं। संसारी जीव प्रायः पर्यायों में आपा मानने की जानकारी बनाये हैं, फल इसका क्या होगा? जन्ममरण। तो सबसे बड़ी बात यह है कि अपना भविष्य सुधारना है, शान्ति पानी है तो अपनी जानकारी में जो बात ठीक होती हो उस प्रकार की जानकारी करनी चाहिये। शास्त्रों में बताया है कि जीव कैसे समझा जाता है कि यह जीव है। अपने आपको कोई कैसे समझता है कि मैं जीव हूँ? उसकी निशानी बताई है- अहंप्रत्ययबोधता। सर्व जीवों में चाहे वे मुख से न बोल सकें, चाहे बोल रहे हों, अथवा जिनको बोलने का प्रयोजन भी न रहे, सब जीवों में अहं का अनुभव चलता है, मैं हूँ। मिथ्यादृष्टि जीव अपने को पर्यायरूप मानता, अपनी जानकारी उसने भी कर रखी। वह देह को मैं समझता। अन्य कोई अजीवों को मैं समझता। अन्य कोई उपाधियों को मैं समझता। उसका



फल यह होता है कि वह कष्ट में रहता है, क्योंकि पर्यायरूप में वस्तुतः हूँ नहीं। मैं शाश्वत हूँ और मान लिया किसी पर्यायरूप। तो पर को अपना मानने में कष्ट ही है। भैया ! कष्ट केवल इतना ही है कि हम पर को अपना मानते हैं। यहाँ तो मोही जीवों का निवास है सो ऐसी व्यवस्था बनाये हुए है कि नगरपालिका में जिस मकान की रजिस्ट्री हो गई है वह मेरा ही तो है, और किसका है? और इसी आधार पर ऐसा विश्वास बनाये बैठे हैं कि है और किसका, तब ही तो उसकी रजिस्ट्री है सो ऐसा मानने वाले लोग अशान्त हैं कारण यह है कि पर को अपना मान लिया, ऐसा अपना मान लिया कि अब कोई भुलावे भी तो भूल में न आयगा। वह मकान पर है और उसे अपना माना अतएव दुःखी है। इसी प्रकार यह देह भी पर है और इसे अपना मान लिया अतएव दुःखी है। सारे दुःख इस देह के सम्बन्ध से बन रहे हैं। जरा भी गहराई से विचार करो तो यह बहुत ही जल्दी समझ में आ जायगा। जब प्यास भूख आदिक लगी हो, तब यदि विवेक हो, विचार चलेगा कि उपाय बना लो, ऐसा कि यह देह भी साथ न रहे, केवल मैं ही रह जाऊँ तो भूख, प्यास, सम्मान, अपमान, इष्टवियोग, अनिष्टसंयोग आदिक के सभी झगड़े खत्म हो जायेंगे और जब तब इस शरीर का सम्बन्ध रहेगा तब तक सब झगड़े करने पड़ेंगे।

**शरीर से छुटकारा पा लेने का उपाय बना लेने में चतुराई—** भैया ! ऐसा उपाय बनाने में बुद्धिमानी है, इस मानवजीवन के क्षण की सफलता है जिससे कि भविष्य में फिर इस देह का सम्बन्ध न रहे। मैं अकेला ही रह जाऊँ, केवल रह जाऊँ उसी में शान्ति है, पवित्रता है, यह बात वह ही पुरुष कर सकेगा जो इस समय भी मान ले कि मैं देह से निराला हूँ, केवल चैतन्यस्वरूप मात्र हूँ। ज्ञानी कहते और किसे हैं? सारे पर्दों से पार होकर उस चिन्मात्र अपने आधिपत्य के दर्शन कर ले, वही तो ज्ञानी पुरुष है। जैसे हड्डी का फोटो लेने वाला एक्सरा यन्त्र होता है तो वह चमड़ा, कपड़ा, खून, मांस आदिक को ग्रहण न करके सबको पार करके केवल हड्डी का फोटो ले लेता है इसी प्रकार जिस दिन हम आपकी बुद्धि इतनी पैनी बन जायगी कि विभाव बुद्धि, शरीर, कुटुम्ब, इज्जत सबको पार करके केवल एक चिन्मात्र कारण समयसार के दर्शन कर लेगी तो समझ लीजिए कि हमारा संसार निकट है, हम संसार से शीघ्र पार हो जायेंगे।

**पर से हटकर स्वरूप में आने की सारभूतता—** सारभूत बात केवल इतनी ही है कि हम अपने आपमें अपने इस सहजस्वरूप को समझ जायें। यह स्वरूप कब समझ में आयगा, जब पर को हम पर जान लें। यह पर है, इससे हटना है, इसमें लगाव नहीं रखना है, तो हम स्वरूप में जायेंगे। जैसे आजादी के दो ही तो साधन हैं- असहयोग और सत्याग्रह, पर का तो हम असहयोग कर लें और अपने अंतस्तत्त्व का सत्याग्रह कर लें, ये दो ही उपाय हैं कि हम अपने आपमें शुद्धता का आनन्द ले सकते हैं। तो हमें समझना होगा सबको कि पर क्या है, घर वैभव आदिक प्रकट पर है, इसे तो बहुत से लोग कह देते हैं। कुटुम्ब, परिजन, मित्रजन ये भी पर हैं, देह भी पर है। क्यों पर है? यों पर है कि ये सब मेरे क्षेत्र से, मेरी सत्ता से बाहर हैं। इसीलिए तो यह

पर हैं। कर्म भी पर हैं क्योंकि ये भी मेरी सत्ता से बाहर हैं। और मेरी कषाय भी पर है, क्योंकि यह कषाय परनिमित्त पाकर उत्पन्न हुई है। पर होने का कोई कारण तो होना चाहिए। भले ही कषाय मेरा परिणमन है, मेरे ही साधन से मेरी ही परिणति से हुआ है, पर कर्मोदय का निमित्त पाये बिना कषाय हुए होते तो ये स्वभाव कैसे बैठते, है मेरे परिणमन। मेरे से हुए हैं, मेरे आधार में हैं, अभेदषट्कारकता कषायभाव भी मेरे में है लेकिन फिर भी यह पर है। क्यों पर है? इसका कारण क्या है? यह परभाव है, पर का निमित्त पाकर उत्पन्न हुआ है। पर ने नहीं उत्पन्न किया। वस्तु में यह सामर्थ्य नहीं है कि कोई वस्तु अन्य वस्तु का द्रव्यगुण उत्पन्न कर दे। इस कारण हमने रागादिक उत्पन्न नहीं किये। कर्म का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आत्मा में नहीं गया। आत्मा ने कर्म में से कुछ खींचा नहीं। आत्मा कर्मोदय का निमित्त पाकर सन्निधान पाकर स्वयं अपनी परिणति से रागरूप परिणम रहा है। तो यह नैमित्तिक भाव है, अतएव पर है, विकल्प, वितर्क विचार आदि जितने भी उठते हैं वे उसके पर हैं, इनसे हटना ही उचित है।

**अपने सहजस्वरूप की जानकारी और उसका प्रभाव—** मैं सर्व से निराला एक ऐसा चैतन्यस्वरूपमात्र हूँ, कि वह दृष्टि में आ जाय तो जगत के सब जीवों से मित्रता हो जायगी, जब बाहर दृष्टि देंगे, क्योंकि जैसा मेरा स्वरूप वही सबका स्वरूप है। उनमें यह द्वैतवाद न रहेगा। यह मेरा है, यह पराया है। पर है तो सब है, मेरा है तो सब है, पर तो है ही, और सभी पर हैं। अब स्वरूपसाम्य है इसलिए कह दीजिए कि मेरा है सो सब मेरे हैं। इस जगत के जीवों में यह भेद न रहेगा कि यह पराया है और यह मेरा है, ये लड़के, नाती, पोते आदिक तो मेरे हैं और बाकी सभी लोग पराये हैं, यह सब पर्दा, यह विडम्बना का साधन है और इन भावों से आत्मा में क्या गुजरता है? जो गुजरता है सो अकेले ही तो भोगना पड़ेगा, कोई दूसरा साथी नहीं है। अज्ञान के रंग में रंग करके इसका खोटा फल भोगेगा कौन? खुद को ही भोगना पड़ेगा, दूसरा कोई मददगार न मिलेगा। तो इन परभावों को परतत्त्व जानकर निज जो स्वतत्त्व है चैतन्यमात्र स्वरूप, जो शुद्धनय के आलम्बन से हमें निकट पहुँचायेगा वह चिन्मात्र मैं हूँ।

**निज कैवल्यस्वरूप के दर्शन का प्रभाव—** शुद्धनय का अर्थ क्या है? शुद्ध केवल का दर्शन। जिसमें यदि इतना भी भेद कर दिया जाय कि आत्मा में चैतन्यस्वरूप है, स्वभाव है, तो जो चैतन्यस्वभावमात्र अपने को निरखकर आनन्द में आ रहा था उसकी दृष्टि में यदि इतना भी भेद आ जाय कि मुझमें चैतन्यस्वभाव है, तो बस वह परम अभेदस्वरूप शुद्धता से गिर जायेगा, यह भेद क्यों आ गया? लो अशुद्धता आ गयी। अभेद वस्तु में भेद करना भी अशुद्धता है और मलिन परिणाम होना भी अशुद्धता है। मैं एक चैतन्यस्वभावमात्र हूँ अन्य स्वरूप नहीं, यह दृष्टि में आना चाहिए। बात कोई कठिन नहीं कह रहे, आप समझ सकते हैं। सभी लोग अपने बारे में सोचते हैं कि मैं फलाना लाल हूँ, फलां चंद हूँ, फलां प्रसाद हूँ आदि, पर यह सब मिथ्या है, अज्ञान है। मैं फलाना चंद, फलानी बाई आदि ये कुछ भी नहीं हूँ। किन्हीं ने ऐसा ही विश्वास बनाया हो कि

मैं अमुक मजहब वाला, अमुक कुल, जाति आदिक का हूँ तो यह सब अज्ञान है, तुम इन रूप भी तुम नहीं हो। पर व्यवहार करना होता है और व्यवहार करना कुछ परिस्थितियों में आवश्यक भी है, लेकिन उसका भी फल विडम्बना है। भीतर अपने आपके स्वरूप को देखो जिससे मोह टूटेगा और आपका कल्याण बनेगा। वह भीतर का स्वरूप है कैवल्य। केवल चैतन्यप्रकाश और कुछ मैं नहीं। जब उस चैतन्यप्रकाश पर दृष्टि होगी तब यह जँचेगा- ओह ! कितनी बड़ी विडम्बना थी? यह मानते थे कि यह मेरा है, वह पराया है और ऐसा मानकर जो घर के स्त्री पुत्रादिक को अपना माना, उनके ही लिए अपना तन, मन, धन, वचन सर्वस्व लगाया, वह तो एक अज्ञान अंधकार था। इस प्रकार से जब इस जीव को सच्चे स्वरूप का भान होगा तो अज्ञान तिमिर का विनाश हो जायेगा। गृहस्थी में रह रहे हैं, इस वजह से आपके तन, मन, धन, वचन का विशेष उपयोग परिवारजनों में हो रहा है, मगर आपका आग्रह न रहेगा कि मेरा शरीर इनके लिए ही है। जो भी दुःखी जन हों सबका दुःख दूर हो, यह मन की भावना बनेगी और जितनी सामर्थ्य है उतना दूसरों का दुःख दूर करने के लिए अपना तन, मन, धन खर्च करके उसका उपयोग कर लेगा।

पर के लगाव से हटकर ज्ञानमय अन्तस्तत्त्व के उपयोग में वास्तविक वैभव का लाभ— भैया ! कौन यहाँ मेरा है, कौन यहाँ पराया है? स्वरूप दृष्टि से देखो सबको उनके अपने-अपने पदार्थ दृष्टि से देखो, व्यक्तित्व से देखो तो सब पर है। घर में जो लोग हैं, जिनके पीछे अपनी सारी जिन्दगी लगायी जा रही है वे आपके साथ जन्मे क्या? वे आपके साथ मरण करके जायेंगे क्या? जब तक जीवित हैं तब तक भी वे आपके सुख के साधन बनेंगे क्या? कुछ भी नहीं बन सकते। कारण यह है कि वे अपनी परिणति करें या तुम्हारी? एक 8 वर्ष का भी बालक हो। जिसे आप बड़े आराम से रखते हैं, जिसकी आप बड़ी परवरिश करते हैं, उससे आप यदि एक गिलास पानी भी पीने को मांग लें तो यदि उसका चित्त खेल में लगा होगा तो वह भी आपकी बात की कुछ भी परवाह न करके भाग जायेगा। ऐसी ही बात आप सभी घटनाओं में सोचिये- जो भी लोग आपकी सेवा करते हैं वे अपने आपमें खुद सोचे हुए हैं कि ऐसा करने से हम भी सुख में रहेंगे, अतएव वे सेवा करते हैं, आपकी सेवा वे कहाँ करते हैं। इस मोह राग में अपने आपमें ऐसा सोचे हुए हैं कि इस प्रकार का सुख हमें इस ढंग में ही मिल सकेगा इसलिए करते हैं, पर वस्तुस्वरूप ऐसा नहीं है कि परपदार्थ से कुछ मिल जाय। लेकिन खुदगर्ज कहकर भी आप किसी का अपमान न करें, क्योंकि खुदगर्ज भी क्या है? सब अपनी-अपनी सत्ता के भरे हैं, अपनी सत्ता में अपना परिणमन करते हैं, खुदगर्जी की क्या बात? तो सही स्वरूप जानकर पर से नेह तर्जें, अपने आपके स्वरूप की उपासना करें तो दुर्लभ मानवजीवन सफल हो जायेगा। वह समय आयेगा कि शरीर और कर्म से सदा के लिए छुटकारा मिल जायेगा। उस पथ में चलना है, उस ज्ञानार्जन के मार्ग में प्रमाद छोड़ करके बढ़ना है कि जहाँ हम अपने आपका वैभव प्राप्त कर सकें।

**आगमभावकषाय—** कषाय के निर्देश में 11 वाँ प्रकार है आगमभावकषाय। जो पुरुष कषाय के स्वरूप का प्रतिपादन करने वाले शास्त्र का जानकार तो हो, किन्तु वर्तमान समय में शास्त्र का उपयोग न रख रहा हो ऐसे जीव को आगमभावकषाय कहते हैं। यह आगमभाव यद्यपि भावनिक्षेप के माध्यम से कहा जा रहा है तथापि यह आगमरूप है। नोआगमरूप नहीं है। इस कारण वर्तमान में यह शास्त्र का जानकार है- इतना अंश वर्तमानभाव को पुष्ट कर रहा है और वह नोआगमभाव नहीं है, इस कारण उस सबमें अपना उपयोग नहीं रख रहा। आगमभावकषाय में और आगमद्रव्यकषाय में इस दृष्टि से अन्तर विदित किया जा सकता है कि आगमद्रव्यकषाय में वह कषाय प्रतिपादक शास्त्र का जानकार था। चाहे वर्तमान में उस जानकारी की बात न हो तब भी वह उस भाव में आगमद्रव्यकषाय कहा जा सकता है, किन्तु आगमभावकषाय में वही पुरुष ग्रहीत होता है जो वर्तमानकाल में भी कषायस्वरूप के प्रतिपादक शास्त्र का जानकार हो। हाँ, आगम होने के कारण वर्तमानकाल में उस शास्त्र में उपयोग नहीं रख रहा, उपयोग रखे तो वही पुरुष नोआगमभावकषाय बन जाता है। तो आगमभावकषाय की अपेक्षा से ऐसा पुरुष निहारा गया है जो पुरुष कषाय प्रतिपादक शास्त्र में उपयोग नहीं रख रहा, किन्तु जानकारी सही बनी हुई है, ऐसा पुरुष आगमभावकषाय है। कषाय एक पर्याय है, फिर भी पर्याय का पर्यायवान से भेद नहीं है। जिस द्रव्य में कोई कषाय उत्पन्न होती है उस द्रव्य से कषाय का पार्थक्य नहीं है, अतएव कषाय का पार्थक्य नहीं है, अतएव कषाय और कषायवान में भेद न डालकर जो कषायवान पुरुष है, कषाय प्रतिपादक शास्त्र का जाननहार है अथवा मंदकषाय है, कषाय न भी कर रहा हो तब भी जानकारी की अपेक्षा वह आगमभाव कषाय कहा जा सकता है।

**नोआगमभावकषाय—** अब नोआगमभावकषाय क्या है? इस बात का वर्णन करते हैं। नोआगमभावकषाय में निक्षेप की झलक भी भावनिक्षेप में है और साथ ही नोआगम होने के कारण वह उपयुक्त जीव गृहीत होता है। इस नय की दृष्टि में क्रोध का वेदन करने वाला अर्थात् क्रोध में उपयुक्त जीव क्रोधकषायी कहलाता है। मानकषाय में उपयुक्त मानकषायी कहलाता है। मायाकषाय में उपयुक्त जीव मायाकषायी है और लोभकषाय में उपयुक्त जीव लोभकषायी है। समयसार में जहाँ यह वर्णन किया गया है कि क्रोध में उपयुक्त जीव क्रोधी कहलाता है वह इस नोआगमभावकषाय की दृष्टि में सिद्ध होता है। क्रोध किसका नाम है? जिस भाव में क्रोध हो रहा है और वह क्रोध में उपयुक्त है, क्रोध का वेदन कर रहा है, क्रोधरूप परिणम रहा है वही जीव तो क्रोध है। क्रोध परिणमन का जीव से पार्थक्य तो नहीं है, प्रदेशभेद भी तो नहीं कि क्रोध का प्रदेश कुछ और हो।

**कषायभाव व आत्मा में प्रदेशभेद के कथन पर विचार—** यद्यपि संवरतत्त्व में यह बताया गया है कि कषायभाव में और आत्मा में प्रदेशभेद है। उस प्रदेशभेद से तात्पर्य दो प्रकार का लेना चाहिए। पहिला प्रकार तो यह है कि प्रदेश का अर्थ है स्वरूप आदेश प्रदेश सन्देश। यह सब एक ही धातु से निष्पन्न हैं। तो जीव में

चैतन्यभाव में, आत्मा में एवं इन क्रोधादिक कषायविभाव में स्वरूपभेद है। दूसरा प्रकार यों देखिये कि क्रोधादिक भावों का अन्वय व्यतिरेक कर्मप्रकृति के साथ है। कर्मप्रकृति के उदय होने पर ही क्रोधादिक भावों का आ सकना और कर्मप्रकृति का उदय न रहने पर क्रोधादिक कषायों का न हो सकना, यह अन्वयतिरेक कषाय का कर्म प्रकृति के साथ पाया जाता है। इस कारण कषाय विभाव का कर्मप्रकृति के साथ सम्पर्क है। तब इस दृष्टि में पूछा जायेगा कि कषाय का स्वामी कौन है? तब कहना होगा- कर्मप्रकृति। जिसके होने पर ही जो हो, जिसके न होने पर न हो, वह ही तो उसका स्वामी होगा। इस दृष्टि में और आगे बढ़कर अब कषायभाव को कर्मप्रकृति के साथ जोड़ दिया जाय तब इस दृष्टि में कषाय के प्रदेश कहाँ हैं और किसके हैं? यह निर्णय स्वयं हो जायेगा। तो प्रदेशभेद हो गया अब। कर्म के साथ कषाय को जोड़ दिया गया, यह भी एक दृष्टि है। जितनी दृष्टियाँ होती हैं उतने तथ्य तो हैं, किन्तु उनमें से किसी भी दृष्टि का आग्रह कर लिया जाय तो उस दृष्टि के आग्रह में ही तो एकान्तवाद बनता है। जिन एकान्तवादियों ने यों कहा है कि क्रोधादिक भाव प्रकृति के परिणमन हैं, जीव के कुछ नहीं हैं, यह उनका आग्रह भी इस दृष्टि को एकान्त आग्रह को सिद्ध करता है। यदि इस दृष्टि को एकान्तरूप में ही मान लिया जाय तब तो इसका विषय मिथ्या होगा, पर एकान्त आग्रह न करके अन्य नयों की बात मानते हुए प्रमाण से परिगृहीत इस आत्मतत्त्व में कषायों का इस प्रकार का परिचय पाना जहाँ कि प्रदेशभेद जँचने लगे वह है अन्वयतिरेक सम्बंध वाले पदार्थ का स्वामी मानकर कहने की दृष्टि। तो सम्बन्ध के प्रकरण में जहाँ यह बताया गया है कि क्रोधादिक भावों में और आत्मा में प्रदेशभेद है वह केवल विवक्षाभेद है। वस्तुतः क्रोधादिक कषायें आत्म प्रदेशों से बाहर नहीं होती, तब क्रोधादिक कषायें क्या हैं बस वही जीव तो जो क्रोधादिक कषायों का वेदन कर रहा हो तो यों क्रोधकषाय का वेदन करने वाला अर्थात् क्रोध में उपयुक्त जीव क्रोधकषाय कहलाता है।

**नोआगमभावकषाय का उपसंहार—** नोआगमभावकषाय यहाँ चार रूपों में निरखा जा सकेगा और सामान्यतया कहे तो यह कषाय का अनुभवन करने वाला, कषाय में उपयुक्त हुआ जीव नोआगमभावकषाय है। नोआगमभाव निक्षेप से इस तत्त्व का वर्णन आता है और यह है स्थूलऋजुसूत्रनय का विषय, क्योंकि क्रोध का वेदन कर सकने वाला जीव वही होता है जो अन्तर्मुहूर्त धाराबद्ध किसी एक जाति के कषाय का आधार बन रहा हो। तभी उस प्रवाह का उपयोग ने ग्रहण किया जिसके कारण उस कषाय का वेदन हुआ। सूक्ष्म ऋजुसूत्रनय के विषयभूत एक समयवर्तीकषाय के जानने पर ज्ञाताकषाय का वेदक नहीं बन पाता। वह ज्ञाता ही रह सकता है। कषाय का वेदक जीव वही है जो अन्तर्मुहूर्त प्रमाण धाराबद्ध कषायप्रवाह का उपयोगी हुआ हो। इस कारण नोआगमभावकषाय सूक्ष्मऋजुसूत्रनय का विषय नहीं, किन्तु स्थूलऋजुसूत्रनय का विषय है।

**आत्मा का बारह प्रकार से निर्देश के कथन का समापन—** कषाय के निर्देश में ये बारह प्रकार बताये गए हैं- कषाय क्या है? इसके उत्तर में जो संक्षेपरूप में बात होती है उस ही को निर्देश कहते हैं। कषाय क्या है-

ऐसा कहने पर कषायपर्याय भी कषाय है, कषायपर्याय के जो साधन है वे भी कषाय हैं। जिनका अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध है, ऐसे साधन भी उस ही कार्यरूप कहलाने लगते हैं। कषाय- ऐसा नाम रखकर कोई कहे तो कहेगा कि यह भी कषाय है। जैसे किसी ने क ष ा य ऐसे 3 शब्द लिखकर कागज दिखाया और पूछा- बताओ यह क्या है? तो वह कहेगा ना कि यह कषाय है। अथवा किसी कषायभाव का कुछ भी तो नाम होगा तब तो उसका परिज्ञान और व्यवहार बन सकेगा तो उस कषाय के जानने के लिए जो कुछ भी शब्द बोला जाय, जो कुछ भी नाम रखा जाय वह सब नाम कषाय कहलाता है। कषाय क्या है? इसके विवरण में जो-जो भी उत्तर हो सकते हैं वे सब कषाय के ही तो निर्देश हैं। कषायभाव को निरखकर कहा जाता है- यह है कषाय। तो यह स्थापनाकषाय हुई। किसी वस्तु से कषाय की स्थापना की, यह है सद्भावस्थापना याने जो कषाय न हो और उसमें कषाय की स्थापना की हो, सो बात नहीं। जैसे अतदाकारस्थापना में जिसकी स्थापना की गई उसका आकार नहीं है फिर भी स्थापना कर दी ऐसी बात यहाँ स्थापनाकषाय में नहीं बनती, किन्तु यहाँ कषायभाव में ही कषायनाम की स्थापना की गई है। द्रव्यनिक्षेप और भावनिक्षेप की विधि से कषाय किन-किन को कहा जा सकता, इसके वर्णन में शेष 10 प्रकार की कषायों का वर्णन किया गया है। ये सब कषायें हैं।

कषायों का निर्देश करके अब कषाय का स्वामी, कषाय का साधन अधिकरण स्थिति और विधान बतलाया जायेगा। इन सब अनुयोगों में पहिले यह बतला रहे हैं कि कषाय का स्वामी कौन है? इसका सर्वप्रथम उत्तर यह है कि कषाय जीव के होती है सो कषाय का स्वामी है जीव। सभी जीव कषाय के स्वामी होते हैं, यह नहीं कहा जा रहा, पर कषाय का स्वामी जीव हो सकेगा, अन्य पदार्थ नहीं हो सकता। स्वामी वस्तुतः स्व से अभिन्न ही होगा। स्व और स्वामी इनमें पार्थक्य न होगा कि स्वामी का स्व धन सर्वस्व कोई पृथक् क्षेत्र में रहता हो। जो जिसका स्व है वह उसका स्वामी कहलाता है। अब स्व में अन्तर आ गया। कोई स्व होता है सहज और कोई स्व होता है औपाधिक। इस दृष्टि को लेकर सूत्रजी में जीव के स्वतत्त्व 5 कहे गए हैं- औपशमिक भाव, क्षायिकभाव, क्षायोपशमिक भाव, औदयिकभाव और पारिणामिक भाव। इनमें पारिणामिक भाव तो जीव का सहज स्व है और औपाधिक भाव जीव का प्रकट औपाधिक स्व है। शेष औपशमिक, क्षायिक और क्षायोपशमिकभाव को भी किसी दृष्टि में औपाधिक अथवा नैमित्तिक कह सकेंगे, नैमित्तिक और औपाधिक शब्द में अन्तर है। किसी चीज के अभाव के निमित्त से बात बने उसे नैमित्तिक तो कह सकते हैं, किन्तु औपाधिक न कह सकेंगे। औपाधिकभाव वही कहा जायेगा जो किसी उपाधि के सद्भाव के निमित्त से हुआ हो। तो स्व अनेक प्रकार से देखा जाता है। यहाँ औपाधिक स्व की बात चल रही है। जीव में कषाय होती है, अजीव में नहीं होती, इस कारण कषाय का स्वामी जीव कहा जा सकता है। जीव को छोड़कर अन्य द्रव्य कषाय का स्वामी नहीं होता।

**कषायों के विधान—** कषायों के विधान में प्रकार बताये जायेंगे और उन प्रकारों से यह विदित होगा कि अमुक कषाय का स्वामी इस प्रकार का जीव होता है, विधान से सम्बन्ध सभी का है, अतएव विधान को अन्त में न कहकर इसी समय देखा जाय तो कषायों के विधान चार हैं अर्थात् कषायें मूल में चार प्रकार की हैं। कषाय कोई क्रोधरूप है, कोई मानरूप है, कोई मायारूप है, कोई लोभरूप है। जीव के क्षोभ उत्पन्न हो उसे क्रोध कहते हैं। कठोरता का भाव है, अपने में अहंभाव है वह मानकषाय है और मन में कुछ हो, प्रवृत्ति कुछ हो, दूसरे लोगों को मन का भाव कुछ जताये और पड़ा हो कुछ भाव, वह मायाकषाय है और परवस्तु में जो लालच का भाव जगता है वह लोभकषाय है। यों चार भेद है और ये प्रत्येक चार चार प्रकार के होते हैं। क्रोधकषाय चार प्रकार की है- अनन्तानुबंधी क्रोध, अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, प्रत्याख्यानावरण क्रोध और संज्वलन क्रोध।

**अनन्तानुबंधी क्रोधकषाय—** अनन्तानुबंधी क्रोध उसे कहते हैं जो अनन्त का अनुबंधन करे। अनन्त के मायने है मिथ्यात्व। जो क्रोध मिथ्यात्व का सम्बन्ध बनाये, मिथ्यात्व का पोषण करे उसको अनन्तानुबंधी क्रोध कहते हैं। जब जीव के भेदविज्ञान नहीं है और पर्याय में आत्मबुद्धि है ऐसी अवस्था में जो क्रोध होता है वह अनन्त का अर्थात् मिथ्यात्व का वर्द्धन करने वाला क्रोध होता है। अनन्तानुबंधी क्रोध किसी जीव में मंद भी हो तब भी वह मिथ्यात्व का ही पोषण करता है। ऐसे-ऐसे साधु भी होते होंगे जिनको समता पालन करने के लिए बुद्धि में बहुत कल्पनायें उठती हैं। शत्रु और मित्र को समान मानें तो हमारी मुक्ति होगी। हम मुनि है, हमारा काम समता का है, इस तरह के विचार करके शरीर लिंग को मुनिपना समझकर उसमें आत्मबुद्धि करके कषायमंद भी कर डाली, तिस पर भी मिथ्यात्व का पोषण न रुका। कोई साधु घानी में भी पिल रहा हो और उस शत्रु के प्रति यह कल्पना कर रहा है कि हमें इसे गाली नहीं देना, इससे बदला नहीं लेना, इसको समता से सह लेना चाहिए, हमारा मुनि का यही धर्म है इस प्रकार की कल्पना भी की, पर मुनिपना क्या है इसका पारमार्थिक परिचय न होने से इस भेष को ही मुनि समझकर समता के लिए बलिदान भी खूब किया तिस पर भी मिथ्यात्व का बंध नहीं रुक सका। अनन्तानुबंधी क्रोधकषाय भी हो तिस पर भी अनन्तानुबंधी की प्रकृति नहीं हटती। यह क्रोध क्रोध में महान् क्रोध है जिसके फल में अनन्त संसार में रुलना पड़ता है। क्रोध का एक प्रकार है अनन्तानुबंधी।

**अप्रत्याख्यानावरण क्रोधकषाय—** दूसरा क्रोध है अप्रत्याख्यानावरण। जिस जीव को भेदविज्ञान जगा है, सम्यक्त्व भी जगा है, आत्मस्वरूप का परिचय पा लिया है, किंतु बाह्य सम्पर्क में अभी पड़ा है, गृहस्थी में रहता है तो अनेक घटनायें ऐसी हैं कि जिन प्रसंगों में क्रोध भी जगता है लेकिन वह क्रोध अपनी सीमा तक ही रहता है वह मिथ्यात्व का सम्बद्धन पोषण या सम्बन्ध बंध नहीं कर सकता है। इसको कहते हैं अप्रत्याख्यानावरण क्रोध। अप्रत्याख्यान का अर्थ है अणुव्रत। अ मायने थोड़ा प्रत्याख्यान मायने त्याग, व्रत,

संयम अर्थात् अप्रत्याख्यान का अर्थ है देशसंयम, उसका जो आवरण करे, देशसंयम प्रकट न होने दे ऐसे क्रोध को कहते हैं अप्रत्याख्यानावरण क्रोध। तृतीय व चतुर्थ गुणस्थान में अनन्तानुबंधी रहित अप्रत्याख्यानावरण क्रोध होता है, यद्यपि जिसके बड़ी कषाय है उसकी छोटी कषाय बराबर है। अनन्तानुबंधी कषाय जिस जीव के है उस जीव के शेष तीन प्रकार की भी कषायें हैं। पर अनन्तानुबंधी कषाय न रहे व उस जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय होगी तो वहाँ देशसंयम प्रकट न होगा। सम्यग्मिथ्यात्व व अविरतसम्यक्त्व गुणस्थान में अप्रत्याख्यानावरण क्रोध होता है। अनन्तानुबंधी क्रोध में तो मिथ्यात्व का अंधकार था किन्तु अप्रत्याख्यानावरण क्रोध के समय अंधकार चित्त में नहीं है। पर क्रोध की प्रेरणा परेशान कर डालती है। उस परेशानी में भी इस ज्ञानी की भावना बनी रहती है और उस विवेक के कारण ऐसा अनर्थ कार्य नहीं कर पाता जो सम्यक्त्व का घात कर दे। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध के स्वामी चारों गतियों के जीव हो सकते हैं, अनन्तानुबंधी क्रोध भी देव, मनुष्य, नारकी, तिर्यच- इन चारों गतियों में पाया जा सकता है और विशेषतया पाया ही जाता है क्योंकि मिथ्यादृष्टियों की संख्या अत्यंत अधिक है, बहुत हैं अनन्त हैं, अनन्त मिथ्यादृष्टि असंख्याते देव, मनुष्य, नारकी, मिथ्यादृष्ट हैं। इन चारों जो पञ्चेन्द्रिय संज्ञी गतियों में हैं। जो देव सम्यग्दृष्टि ज्ञानी हुआ है, जो कुछ भी व्रत धारण नहीं कर पाता है उस समय उस जीव के अप्रत्याख्यानावरण कषाय रहती है।

**प्रत्याख्यानावरण व संज्वलन क्रोधकषाय—** क्रोध का तीसरा प्रकार है प्रत्याख्यानावरण क्रोध। जो क्रोध प्रत्याख्यान को नहीं होने देता उसको प्रत्याख्यानावरण क्रोध कहते हैं। प्रत्याख्यान का अर्थ है त्याग महाव्रत पूर्णसंयम। उसका जो आवरण करे सो प्रत्याख्यानावरण क्रोध है। जिस जीव के अनन्तानुबंधी कषाय न रही, अप्रत्याख्यान न रहा, और प्रत्याख्यानावरण है ऐसे जीव होते हैं देशसंयमी। पञ्चम गुणस्थान में यह प्रत्याख्यानावरण कषाय पायी जाती है। प्रत्याख्यानावरण क्रोध के उदय में यह जीव क्रोधी तो हो जाता है पर वह क्रोध इतना अल्प है कि जिस क्रोध में ऐसे खोटे भाव नहीं होते जिनमें देशसंयम बिगड़ जाय अथवा मिथ्यात्व आ जाय। ऐसे क्रोध को प्रत्याख्यानावरण क्रोध कहते हैं। चौथा प्रकार है क्रोध का संज्वलन क्रोध। संज्वलन का अर्थ है जो संयम के साथ भी चलता रहे याने जो क्रोध संयम को न बिगाड़े। महाव्रत भी जिसके हो गया है उसके भी जब क्रोध आता है तो उसे कहते हैं संज्वलन क्रोध। यह क्रोध साधुओं के छठे, 7 वें, 8 वें, 9 वें गुणस्थान में पाया जाता है।

**अनन्तानुबंधी कषाय के संस्कार की स्थिति—** अनन्तानुबंधी क्रोध के लिए दृष्टान्त दिया गया है जैसे बज्र की रेखा। बज्र पर कभी कदाचित् रेखा आ जाय तो वह चिरकाल तक नहीं मिटती अथवा पाषाण रेखा, पत्थर में जो रेखा कर दी गई छेनी से फोड़कर वह रेखा मिट नहीं पाती। बहुत वर्षों के बाद कोई सुयोग बने तो मिट भी जाय, मगर चिरकाल तक रेखा रहती है। इसी प्रकार मिथ्यादृष्टि जीव के अनन्तानुबंधी क्रोध



चिरकाल तक संस्कार बनाये रहता है, इसका उदाहरण पुराण पुरुषों में भी मिलता है। जैसे कमठ ने जीव के अनेक भवों में मरुभूति के जीव को सताया, पर क्रोध न मिट सका और यहाँ तक कि जब पार्श्वनाथ भगवान के रूप में वह जीव आया वहाँ कमठ का जीव ज्योतिषी देव हुआ। वहाँ भी उपद्रव किया। तो अनन्तानुबंधी क्रोध बहुत बड़ी स्थिति का होता है, भव-भव में सताता है। इसका संस्कार उतना ही कठिन है जितना कि पत्थर की रेखा।

**अप्रत्याख्यानावरण कषाय के संस्कार की स्थिति—** अप्रत्याख्यानावरण क्रोध होता है पृथ्वी में बनाई हुई रेखा की तरह। जैसे खेत जोते जाते हैं, हल चलाया जाता है तो हल के चलने से पृथ्वी में मोटी रेखा पड़ जाती है। वह रेखा मिट तो जायेगी, पर करीब 4-6 माह तक बनी रहती है। ऐसे ही अप्रत्याख्यानावरण क्रोध का संस्कार जीव में अधिक से अधिक 6 माह तक चलेगा। इसके बाद संस्कार न रहेगा। पुराणों में जब यह वर्णन आता है कि श्री लक्ष्मण जी के वियोग में श्री राम लक्ष्मण के देह को लिए 6 माह तक फिरते रहे, ऐसा यदि यहाँ कोई मनुष्य करे- अपने भाई के मुर्दा शरीर को लिए रहे, जलाने न दे तो ऐसे भाई को यहाँ के लोग क्या कहेंगे? समझ लीजिए ऐसी भयंकर स्थिति श्री रामचन्द्रजी पर बीती। लेकिन अन्तःदृष्टि का बड़ा प्रभाव होता है। इतना होने पर भी चित्त में सुप्त, जैसे समझ लीजिए ज्ञान ज्योति बनी थी। महापुरुष थे और वह संस्कार 6 माह से आगे न चल सका। कोई निमित्त पाकर या कुछ भी घटना पाकर श्रीराम इतने विरक्त हुए कि सर्वविकल्पों का परित्याग करके साधुव्रत अंगीकार किया और संन्यास में अपना जीवन बिताया। तो क्या था वहाँ। प्रत्याख्यानावरण 6 माह से अधिक नहीं चल सकता है।

**प्रत्याख्यानावरण व संज्वलनकषाय के संस्कार की स्थिति—** प्रत्याख्यानावरण क्रोध चक्र की रेखा की तरह होता है। जैसे कच्चे मार्ग पर कोई गाड़ी निकल जाय तो गाड़ी चक्र की रेखा होती जाती है कि 10-5 दिन में मिट ही जाती है, अधिक नहीं चल सकती इसी प्रकार प्रत्याख्यानावरण क्रोध का संस्कार पन्द्रह दिन से अधिक नहीं चल सकता। यह होता है पञ्चम गुणस्थान में। श्रावकजनों के भी संस्कार अधिक से अधिक पन्द्रह दिन रहेंगे, उससे बाद कषाय के सम्बन्ध की याद भी न रखेगा। अन्य भिन्न प्रकार की कषायें हो जायें, पर किसी एक का संस्कार पन्द्रह दिन से अधिक नहीं चल सकता। संज्वलन क्रोध का प्रभाव है जल रेखा की तरह। जैसे कोई पानी में बांस की लाठी से रेखा बना दी तो वह कितनी देर ठहरेगी? वह वही मिट जाती है। तो ऐसे ही जिन जीवों का क्रोध अन्तर्मुहूर्त तक ही संस्कार रख सकता है, इसका आगे संस्कार नहीं रहता। इनका क्रोध है संज्वलन क्रोध, यह मुनिजनों के होता है। मुनिजनों के कषाय कभी हो भी जाय तो उसका संस्कार अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं होता। संज्वलन क्रोध होता है जलरेखा की तरह। क्रोध हुआ तो दूसरे क्षण समाप्त हो जाता है।

क्रोधकषाय के स्वामित्व के वर्णन का उपसंहार व कषायविजय के उपाय का दिग्दर्शन— क्रोध की चारों जातियों के स्वामी इस प्रकार हैं— अनन्तानुबंधी क्रोध तो होता है मिथ्यात्व व सासादन गुणस्थान में। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध जहाँ कि अनन्तानुबंधी नहीं रहता है, वह होता है तीसरे और चौथे गुणस्थान में। अनन्तानुबंधी रहित व अप्रत्याख्यानावरण रहित प्रत्याख्यानावरण क्रोध होता है पञ्चम गुणस्थान में और केवल संज्वलन क्रोध होता है छठे, 7 वें, 8 वें, 9 वें गुणस्थान में। अब ऊपर ऊपर के गुणस्थानों में क्रोध मंद होता चला गया है। तो यों क्रोध चार प्रकार का है और इसके स्वामी उक्त प्रकार से पाये जाते हैं। इन कषायों में जो अनन्तानुबंधी कषाय है उसका असर इस जीव पर बहुत बुरा है और जीव की बरबादी के लिए है। यों समझ लीजिए कि फिर तो कोई जीव अनन्तानुबंधी क्रोध वाला है, तो उसका तात्पर्य यह हुआ कि वह अपने आप पर महान् क्रोध कर रहा है। उस क्रोध की हालत ऐसी भयंकर होती है जिससे वह जीव स्वयं कुयोनियों में जन्ममरण कर करके अज्ञान गहन अंधकार में रह रहकर यातनायें सहेगा। अनन्तानुबंधी क्रोध इस जीव की बरबादी का प्रमुख कारण है। उस क्रोध के क्षय का उपाय तत्त्वविज्ञान है, भेदविज्ञान है, देहादिक से अपने आपको भिन्न परिचय में ले लेना उस परिचय के ये सब साधन बताये गये हैं। इस विविक्त आत्मतत्त्व के बाधक विभावों के क्षय के उपाय में नय और प्रमाण से निर्णय का काम लेना चाहिए। तत्त्वनिर्णय करके परवस्तु का व्यामोह हटायें और अपने आपको शान्ति में ले जायें।

**अनन्तानुबंधी मानकषाय का विवरण—** मानकषाय भी चार प्रकार की है- अनन्तानुबंध की मान, अप्रत्याख्यानावरण मान, प्रत्याख्यानावरण मान और संज्वलन मान। मान कठिन परिणाम को कहते हैं। जहाँ नम्रता नहीं रहती, अन्य जीवों में उच्चता दिखाने का भाव रहता है उसको मान कहते हैं। मानकषाय वाले जीव कठिन हृदय के हो जाते हैं, उनमें दया का फिर प्रवेश नहीं होता, ऐसा मानकषाय चार श्रेणियों में विभक्त है। जो अनन्त अर्थात् मिथ्यात्व का सम्बन्ध बनाये उसे अनन्तानुबंधी मान कहते हैं। अनन्तानुबंधी मान इस प्रकार का कठोर होता है जैसे कि बज्र अथवा पाषाण। पत्थर नम्रीभूत नहीं हो सकता, वह चाहे टूट जाय पर नमने का वहाँ काम नहीं है, इसी प्रकार अनन्तानुबंधी मान में खुद अपनी बरबादी जीव कर लेगा, किन्तु नम न सकेगा। देव, शास्त्र, गुरु, पूज्य पुरुष, गुणियों के प्रति इसका नम्र भाव नहीं होता, आदरभाव भी नहीं होता। कभी किसी जीव के अनन्तानुबंधी मान मंद भी हो, उस मंद स्थिति में भी गुणी जनों के प्रति नम्रता नहीं आती। ज्ञायकस्वरूप निज अंतस्तत्त्व की ओर झुकाव हो सके, यह बात अनन्तानुबंधी मान में सम्भव नहीं है। भले ही धर्म के नाम पर कुछ साधुभेष भी रखे तपश्चरण आदिक महान् क्लेश भी करे किन्तु ज्ञायकस्वभाव उसके सम्मुख नहीं हो पाता, ज्ञायकस्वभाव की अनुभूति में वह डूब नहीं सकता जिसके अनन्तानुबंधी मान विद्यमान है। मानकषाय का ठीक परिचय पा सकना बड़ा कठिन काम है, कोई जीव वचनों से, शरीर चेष्टा से ऐसा दिखावा करे कि जिसमें नम्रता भरी हो, नमस्कार करना, नम्र शब्द बोलना, अपने को

नीचा जाहिर करना, दूसरे को ऊँचा जाहिर करना, इतनी जाहिरात होने पर भी यह नहीं कहा जा सकता कि उसके चित्त में मानकषाय अब है अथवा नहीं। कहो भीतर की यह मानकषाय ही ऐसी प्रेरणा देती है कि जिससे कि दूसरों को ऊँचा बताया, अपने को नीचा बताया, क्योंकि समझ रखा है उसने यह कि अपने आपको इतना नम्र जाहिर करने में ही मान रह सकता है। कहो ये चेष्टायें मानकषाय की पूर्ति के लिए भी सम्भव हो सकती हैं। तो मानकषाय की विकट संकटमय श्रेणी है अनन्तानुबन्धी मान। अनन्तानुबन्धी मान के उदय में सम्यक्त्व प्रकट नहीं होता। सम्यग्दर्शन की घातक 7 प्रकृतियाँ मानी गई हैं- अनन्तानुबन्धी क्रोध, अनन्तानुबन्धी मान, अनन्तानुबन्धी माया, अनन्तानुबन्धी लोभ, मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति। इन 7 प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम होने पर सम्यग्दर्शन प्रकट होता है। जहाँ अनन्तानुबन्धी मानकषाय है वहाँ सम्यक्त्व न होगा।

**अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण मानकषाय का विवरण—** मानकषाय की दूसरी श्रेणी है अप्रत्याख्यानावरणमान। ऐसा मानभाव जो सम्यक्त्व का तो घात न कर सके, किन्तु अणुव्रत भी होने दे ऐसे कषायभाव को अप्रत्याख्यानावरण मानकषाय कहते हैं। इस अप्रत्याख्यानावरण मानकषाय का उदय चतुर्थ गुणस्थान तक माना गया है, किन्तु जहाँ अनन्तानुबन्धीकषाय नहीं रही और अप्रत्याख्यानावरण मान है ऐसा मान तीसरे और चौथे गुणस्थान में होता है। तीसरी श्रेणी है मान की। प्रत्याख्यानावरण मान जो मान सकल संयम का घात करे, महाव्रत न होने दे उसे प्रत्याख्यानावरण मान कहते हैं। उस मान के उदय में जीव महाव्रत धारण नहीं कर सकता। जिन जीवों के अनन्तानुबन्धी और अप्रत्याख्यानावरण कषाय नहीं रही, प्रत्याख्यानावरण मान चल रहा है वे जीव पंचम गुणस्थान में पाये जाते हैं। अप्रत्याख्यानावरण कषाय का क्षयोपशम होने पर ही देशसंयम गुणस्थान प्राप्त होता है। तो प्रत्याख्यानावरण मान मानकषाय की तीसरी श्रेणी है जिसमें सम्यक्त्व और अणुव्रत का घात नहीं है, किन्तु महाव्रत सम्भव नहीं है।

**संज्वलन मानकषाय का विवरण—** मानकषाय की चतुर्थ श्रेणी है संज्वलनमान। जो मानकषाय संयम के साथ भी चलती रहे अर्थात् संयम का घात तो न कर सके, महाव्रत को तो न हटा सके किन्तु मानकषाय बनी रहे जिससे आगे की प्रगति न हो सके, ऐसे मानकषाय को संज्वलनमान कहते हैं। जिन जीवों के अनन्तानुबन्धी अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण कषाय नहीं रहती, संज्वलनमान है वे जीव छठे गुणस्थान से लेकर 9 वें गुणस्थान तक पाये जाते हैं। अनन्तानुबन्धी मान तो पाषाणवत् कठोर है और अप्रत्याख्यानावरण समझ लीजिए कि हड्डी की तरह कठोर है, जैसे हड्डी में कुछ (थोड़ी बहुत) नमशक्ति है, पाषाण में जरा भी नम्रता नहीं। तो जहाँ कुछ थोड़ी नम्रता हो उसे अप्रत्याख्यानावरण मान कहेंगे। प्रत्याख्यानावरण मान काष्ठ की तरह कठोर है। जैसे काठ बहुत कुछ नम जाता है, पर अधिक नहीं नम सकता, इसी प्रकार जहाँ अपेक्षाकृत अधिक नम्रता है पर अधिक नम्रता नहीं है, ऐसे मानकषाय को प्रत्याख्यानावरणमान कहते हैं। संज्वलनमान पतले बेंत की

तरह नम्र होते हैं। जैसे पतला बेंत बहुत नम्र जाता है, एक सिरे से दूसरे सिरे तक भी नमाया जा सकता है, तो जहाँ इतनी अधिक नम्रता है किन्तु अन्तरङ्ग से कठोरता नहीं गई, उसे कहते हैं संज्वलनमान।

**माया कषाय का विवरण—** जिस प्रकार मान चार श्रेणियों में विभक्त है, माया कषाय भी चार श्रेणियों में विभक्त है। अनन्तानुबंधी माया, अप्रत्याख्यानावरण माया, प्रत्याख्यानावरण माया और संज्वलन माया। माया नाम छल-कपट का है। मन में कुछ हो, वचन से कुछ कहा जाय, शरीर से कुछ चेष्टा की जाय उसे मायाकषाय कहते हैं। जहाँ मन नहीं है ऐसे जीवों के भी संसार में छल-कपट इसी प्रकार पड़ा हुआ है। जहाँ वचन भी नहीं है केवल काय ही काय है, ऐसे एकेन्द्रिय जीवों के भी मायाचार का संस्कार बसा हुआ है। माया कषाय को व्यक्त समझने के लिए हम आपमें सम्भव बात कही जा रही है। मन में कुछ हो, वचन से कुछ कहा जाय और करनी में कुछ आये उसे माया कषाय कहते हैं। अनन्तानुबंधी माया सम्यक्त्व घात करने वाली है और यह कषाय पहले दूसरे गुणस्थान में पायी जाती है। अनन्तानुबंधी माया इतनी वक्र कषाय है जिसके लिए उदाहरण बताया गया है बांस की जड़। जैसे बांस की जड़ वक्र होती है और कितनी ही उसमें वक्रतायें पायी जाती हैं, इस प्रकार का वक्राभिप्राय माया कषाय में होता है। अप्रत्याख्यानावरण माया कषाय उस कषाय को कहते हैं जिस मायाचार में सम्यक्त्व का घात न हो सक रहा हो, किन्तु अणुव्रत न बन सके उसे अप्रत्याख्यानावरण माया कषाय कहते हैं। इसमें वक्रता का दृष्टान्त दिया जाता है जैसे— बारहसिंगा के सींग। वे कई टेढ़ों में चल रहे हैं, किन्तु बाँसमूल की वक्रता से उसमें कम वक्रता है। प्रत्याख्यानावरण मायाकषाय उसे कहते हैं जिस कषाय में सम्यक्त्व और अणुव्रत का घात न हो, किन्तु महाव्रत का घात हो जाय। इस कषाय में वक्रता अप्रत्याख्यानावरण से तो कम है फिर भी विशेष है। जैसे कि चलता हुआ बैल मूत्र करता जाय तो उसके मूत्र में जैसी टेढ़ आती है वह टेढ़ कुछ सीमा को लेकर सीधी सरल है जिसका परिधान भी लगाया जा सकता है। उसमें अधिक वक्रता नहीं है। इस प्रकार प्रत्याख्यानावरण माया कषाय में इतनी अधिक वक्रता तो नहीं है, फिर भी वक्रता बनी हुई। संज्वलन माया कषाय संयम के साथ-साथ भी बनी रहती है। इस कषाय में यद्यपि महाव्रत का घात नहीं होता, किन्तु प्रगति नहीं हो पाती। इस कषाय में वक्रता इतनी कम रहती है जो पीछे मिट सकती है। जैसे जल में वक्र रेखा करें, तो वह रेखा कितने समय तक ठहरेगी? वह तो शीघ्र ही मिट जायेगी, यों ही संज्वलन माया कषाय में वक्रता होती है। यह कषाय छठे गुणस्थान से लेकर 9 वें गुणस्थान तक पायी जाती है।

**लोभ कषाय का विवरण—** लोभ कषाय भी चार श्रेणियों में विभक्त है— अनन्तानुबंधी लोभ— जो मिथ्यात्व का सम्बन्ध बनाये, देव, शास्त्र, गुरु धर्म की सेवा में, उपासना में, उदारता में न बर्त सके, वहाँ भी तृष्णा, लोभ कषाय बनाये रखे, ऐसी तीव्र तृष्णा को अनन्तानुबन्धी लोभ कहते हैं। यह लोभ सम्यक्त्व का घातक है। इसका लोभ इतना गहरा होता है जैसे चक्रमल का रंग। चक्के का मल जैसे कपड़े में लग गया तो

कपड़ा चाहे फट जाय पर वह चक्रमल नहीं छूटता, ऐसे ही अनन्तानुबंधी लोभ का रंग इतना गहरा है कि जिसमें रंच भी उदारता नहीं आ पाती। अप्रत्याख्यानावरण लोभ कषाय में सम्यक्त्व का घात तो नहीं हो रहा किन्तु अणुव्रत नहीं धारण किया जा सकता, ऐसे कषाय को अप्रत्याख्यानावरण लोभकषाय कहते हैं। इसका रंग अनन्तानुबंधी की तरह गहरा तो नहीं है फिर भी बहुत कुछ है। जैसे हरा मजीठ आदिक का रंग इतना गहन होता है उस प्रकार का रंग इस कषाय में चढ़ा हुआ रहता है। प्रत्याख्यानावरण लोभ जहाँ सम्यक्त्व और अणुव्रत का घात तो नहीं है किन्तु महाव्रत नहीं हो सकता ऐसी कषाय को प्रत्याख्यानावरणकषाय कहते हैं। जहाँ अनन्तानुबंधी और अप्रत्याख्यान नहीं रहे, प्रत्याख्यानावरण लोभ है वह पंचम गुणस्थान कहलाता है। उसमें संज्वलनलोभ है जो महाव्रत का भी घात नहीं कर सकता। संयम के साथ-साथ भी बना रहता, पर निर्विकल्पता नहीं होने देता, ऐसा यह लोभकषाय जहाँ अनन्तानुबंधी अप्रत्याख्यानावरण प्रत्याख्यानावरण नहीं है, किन्तु संज्वलन लोभ ही है वह कषाय छठे गुणस्थान से लेकर 10 वें गुणस्थान तक पायी जाती है।

**कषाय के स्वामित्व का उपसंहार—** कषाय के स्वामित्व के सम्बंध में संक्षेपरूप से यह बात है कि कषाय के स्वामी प्रथम गुणस्थान से लेकर दशम गुणस्थान तक होते हैं और विशेषरूप से यह विवरण है कि अनन्तानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ के स्वामी प्रथम और द्वितीय गुणस्थानवर्ती जीव होते हैं अर्थात् मिथ्यादृष्टि और सासादन सम्यग्दृष्टि होते हैं। अप्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के स्वामी प्रथम गुणस्थान से लेकर चतुर्थ गुणस्थान तक होते हैं। और यदि अनन्तानुबंधी कषाय न रही तो अप्रत्याख्यानावरण कषाय के स्वामी सम्यक्मिथ्यादृष्टि और अविरत सम्यग्दृष्टि याने तीसरे व चौथे गुणस्थान वाले जीव होते हैं। प्रत्याख्यानावरण क्रोध, मान, माया, लोभ के स्वामी प्रथम गुणस्थान से लेकर पञ्चम गुणस्थान तक के जीव होते हैं और यदि अनन्तानुबंधी व अप्रत्याख्यानावरण कषाय न रही तो ऐसे प्रत्याख्यानावरण कषाय के स्वामी देशसंयतनामक पंचम गुणस्थानवर्ती जीव ही होते हैं। संज्वलन क्रोध, मान, माया, लोभ के स्वामी प्रथम गुणस्थान से लेकर 9 वें गुणस्थान तक हैं और दशम गुणस्थान में केवल संज्वलन लोभ है। विशेषतया यों कहिये कि अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण व प्रत्याख्यानावरण आदिक ये बारह कषायें नहीं रही तो ऐसे संज्वलन क्रोध के स्वामी छठे गुणस्थान से लेकर 9 वें गुणस्थान तक होते हैं और संज्वलनमान के स्वामी छठे गुणस्थान से लेकर 9 वें गुणस्थान तक होते हैं। क्रोध की अपेक्षा मान के स्वामी नवमें गुणस्थान के और आगे भाग तक होते हैं। और संज्वलन माया के स्वामी छठे गुणस्थान से लेकर नवें गुणस्थान तक होते हैं और मान से एक भाग आगे तक होते हैं। संज्वलन लोभ के स्वामी छठे गुणस्थान से लेकर 10 वें गुणस्थान तक के जीव होते हैं। कषाय के परिणाम की दृष्टि से यह भी कहा जा सकता कि कषायों के स्वामी वे जीव होते हैं जो कषायों को अपनाते हैं, अर्थात् मिथ्यादृष्टि जीव कषायों के स्वामी हैं। ज्ञानी जीवों में कहीं तक

कषायें होती हैं, पर वे कषायों के स्वामी नहीं बनते। इस दृष्टि से मोटेरूप में यह कहा जायगा कि जो कषायों को अपनायें सो कषायों का स्वामी हैं। जो कषायों को न अपनायें वे कषायों के ज्ञाता होते हैं।

**कषायों के साधन का विवरण—** अब कषायों के साधन का विवरण करते हैं। परमार्थतः कषायों का साधन वे ही कषायें हैं, क्योंकि अपनी परिणति से ही वे परिणमित हुए हैं। किसी अन्य साधन की परिणति से कषायपरिणमन नहीं हुआ है और बाह्य साधन की अपेक्षा निर्णय किया जाय तो इस साधन को दो भागों में विभक्त करना चाहिये। एक तो आश्रयभूत, दूसरा निमित्तभूत। निमित्तभूत साधन कषाय का कर्मोदय है। क्रोध प्रकृति के उदय से क्रोधकषाय होता है तो क्रोध का अन्तरङ्ग साधन अथवा कहो निमित्तभूत यह प्रकृति का उदय है। बाह्य साधन कोई प्रतिकूल कार्य सामने आये अथवा विषयों की बाधक कोई घटना उपस्थित हो, उसका जो प्रमुख व्यापार करने वाला है वह कषाय का आश्रयभूत बनता है। कषायों के जो आश्रयभूत साधन हैं उनका नाम समुत्पत्ति कषाय के प्रकरण में इस बात को विशेषरूप से स्पष्ट किया है। कषायों में अनन्तानुबंधी के साधन कुछ और ढंग के होते हैं, अप्रत्याख्यानावरण आदिक कषायों के साधन और ढंग के होते हैं। बाह्य साधन तो आश्रयभूत कहलाते हैं और अन्तरङ्ग साधन निमित्तभूत पदार्थ कहलाते हैं और उपादान कारण वह जीव स्वयं है जिसमें कषायभाव उत्पन्न होता है।

**कषायों का अधिकरण—** कषाय का अधिकरण परमार्थतः वह कषाय ही है। कषाय किसमें हुई है? जब कषाय का सूक्ष्मरूप से दर्शन करने वाले ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में देखते हैं तो कषाय का आधार वही स्वयं कषाय है। इस नय की दृष्टि में कषाय परिणाम न किसी से उत्पन्न हुआ है और न किसी साधन से नष्ट हो सकता है, किन्तु वह अपने में अपने काल में उत्पन्न हुआ है और उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है। तो कषाय एक पर्याय है और पर्यायों का सूक्ष्मता से दिग्दर्शन करने वाला नय ऋजुसूत्रनय है। तब ऋजुसूत्रनय की दृष्टि में कषायों का आधार वही स्वयं है लेकिन केवल ऋजुसूत्रनय से ही तो पदार्थ का निर्णय नहीं होता। जब अन्य नयों की दृष्टि से नैगम आदिक नयों के आश्रय में कषायों का अधिकरण कहा जाय तो अन्तरङ्ग अधिकरण वह जीव ही है जिसमें कषाय जगी है। बाह्य अधिकरण क्षेत्र कह सकते हैं कि किन-किन क्षेत्रों में कषायें होती हैं, तो यह समस्त लोकाकाश ही कषायों का आधार हुआ। लोकाकाश में संसारी जीव भरे पड़े हुए हैं। त्रसनाली में तो केवल त्रस जीव हैं और किन्हीं-किन्हीं स्थितियों में त्रसनाली से बाहर भी त्रस सम्भव हो सकते हैं, किन्तु बहुत कम समय के लिए मारणां तक समुद्धात और उपपादसमुद्धात जैसी स्थिति में। जैसे किसी त्रस जीव के मरण का समय है और अपने उन अन्तिम मरण में मरणसमुद्धात करता है उसे उत्पन्न होना है त्रसनाली के बाहरी क्षेत्र में स्थावर तो मारणांतिक समुद्धात के समय वह त्रस जीव उत्पन्न होने के स्थान को छू आयगा और वह वापिस आकर उस ही त्रस देह में आ जायगा। तो है तो वह त्रस जीव, पर उसके प्रदेश मारणांति समुद्धात में त्रसनाली से बाहर भी चले गए। उपपातसमुद्धात की बात यों है कि कोई

स्थावर जीव त्रसनाली से बाहर है और वह मरण करके त्रस जीव होने को है सो त्रसनाली से बाहरी क्षेत्र से विग्रहगति करके त्रस नाली में त्रस उत्पन्न हो रहा है तो विग्रहगति में वह जीव त्रस कहलाता है। अभी त्रस के उस नवीन देह में नहीं आया किन्तु त्रससंज्ञा पूर्वभव की आयु के क्षय के अनन्तर ही हो जाती है तो ऐसे मौकों में दो एक समय तक जीव त्रसनाली से बाहर रहा और त्रस कहलाया। अतः इन कषायवान जीवों का अधिकरण यह समस्त लोकाकाश है, परमार्थ से विचारा जाय तो कषायों का अधिकरण इन जीवों को ही कहा जा सकता है, कषायों के अधिकरण अथवा स्वामित्व के सम्बन्ध में यह भी सिद्धान्त आया है कि मुख्यतया क्रोध के स्वामी नरकगति के जीव होते हैं, मान के स्वामी मनुष्यगति के जीव होते हैं, माया के स्वामी तिर्यचगति के जीव होते हैं और लोभ के स्वामी देवगति के जीव होते हैं। यह मुख्यतया कथन है किन्तु जिसमें क्रोध है उसमें शेष तीन कषायें भी हैं, जिनमें मान है उनमें भी शेष तीनों हैं, माया, लोभ के साथ भी समस्त कषायें हैं। केवल नवें गुणस्थानवर्ती जीव कुछ ऐसे होते हैं कि जिनमें संज्वलन क्रोध नहीं रहा, पर मान, माया, लोभ बसा हुआ है। कुछ समय बाद उन्हीं के संज्वलन मान भी नहीं रहता। केवल संज्वलन माया लोभ रह गया है। उन्हीं जीवों के कुछ समय बाद संज्वलन माया कषाय भी नहीं रहती। केवल संज्वलन वादर लोभ रह जाता है और दशम गुणस्थान में तो केवल सूक्ष्म संज्वलन लोभ रहता है।

**कषायों की स्थिति—** कषाय की स्थिति के सम्बन्ध में यह निर्णय है कि किसी भी विशिष्ट कषाय की स्थिति अन्तर्मुहूर्त से अधिक नहीं होती। किन्हीं परिस्थितियों में इससे भी कम हो जाता है। एक दो आदिक कुछ समय के लिए कषाय हो और मरण अथवा व्याघात होने पर दूसरी जाति की कषाय जग जाती है। यों इसकी स्थिति की बात संस्कार की अपेक्षा कही जाय तो इस प्रकार होगी कि अनन्तानुबंधी कषाय सरकार से 6 माह से अधिक भी रहती है। और भव-भव में भी अनन्तानुबंधी कषाय जा सकती है। अप्रत्याख्यानावरण कषाय संस्कार से अधिक से अधिक 6 माह तक रहेगी। अप्रत्याख्यानावरण कषाय के संस्काररूप में भी स्थिति 6 माह से अधिक नहीं होती, यही कारण कहा जा सकता है कि जब श्रीरामचन्द्रजी लक्ष्मण के वियोग में क्षुब्ध हो गए और मृतक देह को लिए फिरे तो ऐसी क्षुब्ध दशा 6 माह से अधिक न चल सकी। इसके पश्चात् उस कषाय का संस्कार ही नहीं रह सकता। प्रत्याख्यानावरण कषाय के संस्कार की म्याद अधिक से अधिक पन्द्रह दिन की होती है। पन्द्रह दिन से अधिक पञ्चम गुणस्थानवर्ती पुरुष के कषाय का संस्कार नहीं चलता है। संज्वलन कषाय के संस्कार की स्थिति केवल अन्तर्मुहूर्त रहती है। किसी भी साधु के क्रोधादिक कषायों का संस्कार अन्तर्मुहूर्त से अधिक न रह सकेगा। यदि संस्कार इससे अधिक रहता है तो समझना चाहिए कि वह उस गुणस्थान से गिर गया।

**कषायों के विवरण के अवगम से उपादेय शिक्षा—** कषायों का विधान पहिले बता ही दिया गया है। कषायें 16 रूपों में विभक्त हैं और कषायों के साथ कुछ चित्त प्रवृत्तियाँ होती हैं, वे वृत्तियाँ 9 रूपों में प्रकट होती

हैं। जिन्हें नोकषाय के नाम से कहा है- हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, स्त्रीवेद, पुरुषवेद और नपुंसक वेद। यदि अनन्तानुबंधी के साथ ये नो कषायें हैं तो इनमें उस प्रकार की तीव्रता आ जायेगी। जिस-जिस प्रकार की कषाय के साथ ये नोकषायें चलती हैं उसके अनुसार इन नोकषायों की प्रवृत्ति बन जाती है। यों कषायों का परिचय है। इस परिचय को पाकर यह शिक्षा लेनी है कि कषाय जीव के स्वभाव नहीं, ये विनाश के हेतु हैं, उनको न अपनाकर अपने ध्रुव अखण्ड सहज चैतन्यभाव में रुचि करना चाहिए जिससे सम्यग्दर्शन का पोषण हो।

**सम्यक्त्व की हितरूपता—** इस जीव का हित सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व ही हम आपका एक सर्वोपरि सर्वप्रथम वैभव होगा। जीव को चाहिए शान्ति, शान्ति प्राप्त होने का मूल उपाय सम्यक्त्व है। यह जीव बिना काम व्यर्थ ही अशान्ति लादे हुए है। जहाँ-जहाँ भी जीव ने राग व बाह्यसम्पर्क किया वह बिना ही काम तो किया। आत्मा को उसमें लाभ क्या मिला? अब तक अनन्त देह प्राप्त किये। जिस देह में वह जीव पहुँचा उस देह को आपा मानकर रम गया। क्या लाभ मिला? और जिस जिन्दगी में जीते रहे उस भव में आपा मानने के कारण अनेक कष्ट और भोगे। अब तक अनन्त भव पाये और गुजर गए। उन अनन्त भवों के सामने आज का यह एक भव कौनसी गिनती रख रहा है? लेकिन यह भव गिनती रख लेगा यदि सम्यक्त्व प्राप्त हो गया तो। और यदि सम्यक्त्व नहीं प्राप्त हुआ तो फिर इस एक भव की कोई गिनती नहीं। जैसे अनन्त भव पाये वैसे ही यह भव भी पा लिया। यह भी उन गये बीते भवों में भी शामिल हो गया। सम्यक्त्व के समान श्रेय और कुछ नहीं है, मिथ्यात्व के समान अश्रेय, अहितकर, विडम्बना और कुछ नहीं है।

**सच्चिदानन्दमय आत्मा का सम्यक्त्व में कल्याणभाव—** जीव स्वयं शान्तस्वभावी है, आनन्दमय है। इसे सच्चिदानन्द कहते हैं। आत्मा सत् चित् और आनन्दस्वरूप है। कुछ लौकिक दर्शन यह मानते हैं कि सत् होता है जीव, चित् होता है आत्मा और आनन्द होता है परमात्मा अथवा परमात्मा में ये तीनों बातें हैं- सत्, चित् और आनन्द। आत्मा में दो बातें हैं- सत् और चित्। जीव में एक बात है- सत्। उनकी यह कल्पना कुछ प्रधान और कुछ गौणता के ख्याल से है, सो बहिरात्मा को जीव, अन्तरात्मा को आत्मा और परमात्मा को प्रभु कहा करते हैं। यह कहना किस ख्याल में है सो देखिये- सरसरी निगाह में स्थूलरूप से यह बात घटित हो जाती है कि यह प्राणी क्या है, सत् ही तो है। और इस सत् शब्द से यहाँ एकेन्द्रिय आदिक प्राणियों को लिया गया है। जहाँ प्रतिक्रमण पाठ में पढ़ते हैं ना- ये जीव जो कि बोलचाल नहीं सकते, ऐसे कीड़ा मकौड़ा एकेन्द्रिय स्थावर आदिक को सत्त्व शब्द से लिया गया है। कहाँ स्थावर बोलते हैं? प्रयोजन यह है कि सत्त्व मायने है जीव। (उन दार्शनिकों का समन्वय करते हुए कह रहे हैं) और जहाँ चित् आ गया, ज्ञान आ गया, विवेक आ गया वह है अन्तरात्मा और जहाँ आनन्द प्रकट हो गया, जैसे कि आत्मा उस सत्त्व से खुद भरा है तो वह हो गया प्रभु, किन्तु स्वरूपदृष्टि कहती है कि प्रत्येक जीव सच्चिदानन्दमय है। आनन्द तो जीव का



स्वभाव है, और उस आनन्दशक्ति का सुख और दुःखरूप में परिणमन चल रहा है। न भी विवेक प्रकट हुआ हो लेकिन चित्त तो है ही। चेतना सब जीवों में है और सत् की बात तो चेतन अचेतन सब ही में पायी जाती है। तो पदार्थ के नाते तो सत् है, असाधारण पदार्थ के नाते चित् है और स्वभाव आनन्द का है और प्रयोजन आनन्द का है, सो आनन्द भी है। ऐसे सच्चिदानन्द स्वरूप आत्मा का श्रेय सम्यक्त्व है और अकल्याण मिथ्यात्व है।

**सम्यक्त्व की श्रेयोरूपता व मिथ्यात्व की विडम्बनारूपता—** सम्यक्त्व का अर्थ है समीचीनता, यथार्थता। आत्मा को आत्मा समझ लेना, मान लेना, अनुभव लेना, बस यही तो समीचीनता का रूप है, फिर व्यक्तरूप में ऐसा परिणमन भी बन जाय, इसका भी आधार यह सम्यक्त्व है। सम्यक्त्व में क्या समझना है? मैं स्वयं केवल अपने आप किस प्रकार हूँ, बस इसकी यथार्थ प्रतीति होना यह बात सम्यक्त्व में बनेगी। यह वैभव अब तक नहीं पाया, लौकिक वैभव कुछ भी पा लिया जाय, पर वह तो धूलवत् है, तृण समान है। वह लौकिक वैभव किस काम का है? थोड़ासा मान लेते हैं कि लोक में इज्जत तो आजकल लौकिक वैभव में है। जो अधिक धनिक होगा वही समाज में इज्जत पाता है उसी को लोग सभा सोसाइटियों में आगे बैठालते हैं। बैठालते हैं ठीक है, लेकिन उसकी इज्जत किन लोगों ने करी? मोहियों ने। मोहियों का राजा वह बना। मोही शब्द को सुनकर तो आपको बुरा न लग रहा होगा। मोही की जगह अगर बेवकूफ कह दिया जाय तो आपको बुरा लग जायेगा। बेवकूफ का अर्थ है अविवेकी, अज्ञानी, मोही। अगर कोई उन मोहियों का सरदार है तो वह कहलायेगा महाबेवकूफ। जो व्यक्ति इन मोही जीवों का अगुवा बनना चाहता है, उनमें अपनी प्रतिष्ठा पाने के लिए धनार्जन की होड़ लगा रहा है तो यह तो उसका मलिनता का ही काम है, यह कोई सन्मार्ग नहीं है। ये सब मिथ्यात्व की बातें हैं, स्वप्नवत् हैं। मोहियों में अपनी इज्जत पा लेना उससे इस जीव को क्या लाभ मिल जाता है? मिथ्यात्व के समान जीव का अकल्याण कुछ नहीं है। बात कितनी सी है? भीतर में ही यह उपयोग उल्टा मुख किए है, मिथ्यात्व बन गया है। यह उपयोग सीधा मुख कर ले तो सम्यक्त्व बन जायेगा और वह उल्टा सीधा कितना है भीतर में? अगर अन्तर में देखें तो कितनी सी बात है? स्व और पर इन दोनों के उपायों को मुड़ने के लिए कितनी मोटाई चाहिये। जरा अन्तर्दृष्टि करके विचारिये कुछ भी मोटाई न चाहिए। कितना जरा सा फेर है? एक सूत बराबर भी नहीं। केवल वहाँ भाव का फेर है। अपने सम्मुख उपयोग बने, वहाँ ही अलौकिक वैभव है और अपने से हटकर बाह्य की ओर उपयोग रहे उससे तो विचित्र विडम्बनायें हैं। उसका उदाहरण यह सारा संसार है। जितने ये जीव, पशु, पक्षी, कीट आदिक नजर आते हैं दुःखी, क्लिष्ट, अज्ञानी, वह सब इस मिथ्यात्व विडम्बना का फल है। सम्यक्त्व के समान जगत् में श्रेय कुछ नहीं है। मिथ्यात्व के समान जगत् में अकल्याण कुछ नहीं।

**सम्यक्त्व के योग्य व्यवहार वृत्ति बनाने की प्रेरणा—** घर में लोग परिजनों में बैठते हैं, राग करते हैं, बातें करते हैं। क्या बातें करते हैं? प्रायः करके अकल्याण की बातें करते हैं। परिजन को परजन बना लिया, उन्हें परिजन बनायें। यदि धर्मचर्चा करके वातावरण घर में विशुद्ध बना लिया जाय तो समझ लीजिए कि आपने परिजनता की। अपना वातावरण अपने लिए ठीक किया, कुटुम्ब के लिए ठीक किया। पर घर में धर्मचर्चा का रूप कौन देता है? समझ रखा है कि घर तो इसीलिए है कि संतान पैदा हों, नाम चले। धर्म का वातावरण बनाने का कोई मतलब नहीं। जिस घर में रह रहे उस घर से ही परिचय मिलेगा उस घर के मुखिया पुरुष का कि वह किस प्रकृति का है? वह विवेकी है, अविवेकी है, मोही है, अथवा किस प्रकार का इसके घर का वातावरण है, यह उसके घर से ही परिचय मिल जायेगा। घर में अगर सुरूपा महिलाओं के, आजकल के अभिनेताओं के, या और भी मलिन भाव उत्पन्न करने वाले चित्र (अश्लील चित्र) लगे हों तो पता पड़ जाता है कि इस घर का मुखिया इस प्रकृति का है और अगर घर में मुनिराजों के या जिन साधुसंतों के ऊपर बड़े बड़े उपसर्ग आये, उनके चित्र या वैराग्यता उत्पन्न करने वाले चित्र लगे हों तो उससे पता पड़ जाता है कि इस घर का मुखिया इस प्रकृति का है। तो ये तो बाहरी बातें हैं। भीतरी बात तो सम्यक्त्व की है। सम्यक्त्व के समान श्रेय कुछ न मिलेगा। जब सम्यक्त्व जगे तभी से आप अपनी जिन्दगी का प्रारम्भ समझिये। वरना सम्यक्त्व बिना जो जिन्दगी है वह कोई जिन्दगी नहीं है। अगर आप अपने को इस भव की 50 वर्ष की जिन्दगी को जानकर ऐसा कहे कि मैं तो 50 वर्ष का हूँ तो आप 50 वर्ष के ही क्यों हैं? आप तो अनन्तकाल के बूढ़े हैं। सम्यक्त्व जगा कि आपका नया जीवन बना, अलौकिक जीवन बना। सम्यक्त्व जगने पर आप इस संसार समुद्र से पार हो जायेंगे।

**आत्मा के केवल रह जाने की स्थिति की श्रेयोरूपता—** आत्मा के केवल रहने की बात सुनने में तो अभी अच्छी लगेगी आपको, मगर उस केवल के आनन्द की बात कही जाय। एक आत्मा हम आपमें ही भीतर में समझ लो ऐसा ही कोई आत्मा आत्मा ही अकेला रहा, अब शरीर उसके साथ नहीं है, केवल जीव, केवल जीव वह भी तो होता है। यहाँ मरे के बाद तो झट लोग कहते हैं कि जो इसमें जीव था वह चला गया। जो चला गया उसी की बात कह रहे हैं। चला तो गया, अब वह नया शरीर लेगा। जो चला गया उसके साथ सूक्ष्मशरीर लिपटा था, वह भी न हो, नया शरीर भी न ले, उसमें खाली जीव जीव हो तो इतनी मोटी बात तो आपकी समझ में आ ही जायगी कि वहाँ फिर भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी, सम्मान, अपमान आदिक के कोई क्लेश नहीं हैं। जब शरीर ही नहीं है तो फिर ये सब बातें होगी ही क्यों? जो केवल जीव है, केवल चैतन्यप्रकाश है, प्रतिभासस्वरूप है, वह पकड़ा नहीं जा सकता, चखने से चखा नहीं जा सकता। ऐसा जीव केवल रह जाय तो आप जान गए होंगे कि हजारों झंझट तो मिट ही गए। जहाँ शरीर न रहा, केवल आत्मा ही आत्मा रह गया वहाँ कितने आनन्द की बात है? लग तो रहा होगा कि हाँ आनन्द तो उसी स्थिति में है।

और जब कहा जाय कि यदि इसी स्थिति में आनन्द है तब तो फिर ऐसा ही बनने का प्रयत्न करो, पुरुषार्थ करो। हाँ हाँ जरूर पुरुषार्थ करना चाहिये। तो क्या पुरुषार्थ करना है? वस्तु का यथार्थस्वरूप सीखना है। और उसमें खो जाना है, उसके भीतर में ध्यान का अभ्यास करें। जब द्रव्य गुणपर्याय के स्वरूप को जानकर परख लिया जाय कि सत्पदार्थ अन्य से अत्यन्त पृथक् है, परस्पर में असंकीर्ण है, मिला हुआ नहीं है, सबका सत्त्व जुदा है, परिजन से मैं निराला हूँ, धन वैभव से मैं जुदा हूँ, देह से निराला हूँ और जो विकल्प विचार उठते हैं उनसे भी निराला हूँ। अब जरा ऐसा प्रयोगात्मक मानने के लिए अन्तः पुरुषार्थ तो करें। यहाँ कुछ कठिनाई लगेगी, पर कठिनाई कुछ नहीं है।

**भावदृष्टि से सन्मार्ग की सुगमता—** बड़ी-बड़ी किताबों को समझने के लिए जैसे कुञ्जी मददगार होती है इसी प्रकार धर्म की इन सब बातों का रस लेने के लिए कुञ्जी होती है बस वह स्वरूपकिला ध्यान में आ जाय कि अपने आपमें प्रत्येक पदार्थ ऐसा दृढ़ मजबूत है कि टस से मस कोई पदार्थ नहीं होता। कितने ही निमित्त सन्निधान हों, पर किसी भी निमित्त का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उपादान में रंचमात्र भी तो नहीं है, क्योंकि प्रत्येक वस्तु का स्वरूपकिला पूर्ण मजबूत है। जब स्वरूपदृष्टि कर रहे हैं तो आपको ये सब बातें समीचीन रूप से विदित होती चली जायेंगी। आत्मा की भावप्रगति के लिए निमित्त होने पर भी निमित्त पर दृष्टि न रखने का बड़ा महत्त्व है। यह भी एक बात ध्यान में रखिये— ध्यान करने वाले पुरुष को ध्यान की सिद्धि में संहनन दृढ़ होना एक निमित्त है। ब्रह्मवृषभनाराच संहनन बिना उत्तम ध्यान नहीं बन पाता। इसमें कोई संदेह की बात नहीं है। लिखा है, है भी ऐसा। लेकिन ऐसा ध्यान करने वाला पुरुष अपने ब्रह्मवृषभनाराचसंहनन को देखे तो क्या ध्यान करेगा? तो निर्णय की जगह निर्णय है, साधना की जगह साधना है। जहाँ निर्णय में साधना घुसी, साधना में निर्णय घुसा, बस वहीं विवाद खड़ा हो जाता है। जितने भी अपूर्व कार्य हैं, जो परिणमन पहिले न थे अब हो रहे हैं तो यह तो मानना ही होगा कि इनकी उत्पत्ति में कोई निमित्त होता है। इसे इंकार नहीं किया जा सकता, अन्यथा वे पहिले से क्यों न थे? यह प्रश्न खड़ा हो जाता है। यदि उत्तर में और बातें ली जायें कि उसमें योग्यता यों न थी, क्यों न थी? यों अनवस्था बन जायगी। मानना पड़ेगा कि किसी न किसी प्रकार का निमित्त है तब यह भी याने मिथ्यात्वपरिणमन से सम्यक्त्वपरिणमन हो जाना वह भी अपूर्व काम हुआ। सिद्धपरिणमन होता है तो संसारपरिणमन का व्यय होता हुआ सिद्धपरिणमन होता है वह भी अपूर्व काम है। सारे अपूर्व काम के लिये कुछ निमित्त है। जो प्रथम क्षण का सिद्धपरिणमन है वहाँ कर्मक्षय निमित्त है। फिर जो सिद्धपरिणमन चलते रहते हैं वहाँ कर्मक्षय भी नहीं हो रहा है, निमित्त भी क्या कहें, कर्म है ही नहीं, क्षय किसका? धर्मादिकद्रव्य की शुद्धपरिणमन एकमात्र कालद्रव्य का निमित्त लेकर चल रहा है, यों ही सिद्ध भगवान का परिणमन भी कालवश चलता रहता है, वहाँ कर्मक्षय निमित्त नहीं है, पर प्रथम समय में जो कार्य हो वह निमित्त है, अब नई अवस्था है। प्रथम बार अगर स्वभावविकास की बात हुई तो यह पहिले

से कुछ नया कार्य है तो वहाँ है निमित्त, पर प्रकरण है हम आप लोगों का। हम आपको कल्याण के लिए करना क्या है? तो किसी भी अपूर्व काम में, सम्यक्त्व में इसके और ऊँचे-ऊँचे विकास में भी निमित्त हैं। ध्यान बढ़े उसमें भी निमित्त है। पर इसके निमित्त की ओर दृष्टि न रखकर, निमित्त को न पकड़कर, निमित्त का ध्यान न रखकर हमें केवल अपने आपके शक्तिस्वभाव को दृष्टि में रखकर बढ़ते जाना है। काम यह होगा। साधन की बात साधन के ढंग से रखनी होगी।

**सम्यक्त्वलाभ के अपूर्व अवसर की प्राप्ति के साधनों के वर्णन के उपक्रम की सूचना—** इस प्रकरण में यह बताया जायगा कि सम्यग्दर्शन उत्पन्न होता है तो उसके क्या-क्या साधन हैं, क्या निमित्त हैं, किस तरह प्राप्ति होती है, कैसी प्राप्ति होती है? बस सम्यक्त्व की उपलब्धियों के प्रसंग में वर्णन चलेगा। सम्यग्दर्शन एक नया काम है, अपूर्व काम है। यह जीव अब तक अनादि से मोहबंधन से दूषित रहा, जिसको सम्यक्त्व हुआ था सम्यक्त्व से पहिले वह मोहबंधन से दूषित था और अनन्तकाल दूषित रहा, अब उसकी जगह सम्यक्त्व हो, यह सम्यक्त्वपरिणमन उसका अपूर्व काम है कि नहीं। मोही जीव यहाँ किन-किन विडम्बनाओं को अपूर्व-अपूर्व समझते रहते हैं। बच्चा उत्पन्न हुआ तो लोग खूब गाजे बाजे बजवाते, बड़ा गान तान करवाते, बड़ी-बड़ी खुशियाँ मनाते, उस बच्चा पैदा होने को एक अपूर्व काम लोग समझते हैं। लोग तो बड़ी खुशियाँ मनाते, मगर जिस बच्चे का जन्म हुआ वह बेचारा उस समय बड़े कष्ट में है, वह तो काँय-काँय करके रो रहा है, जिस बच्चे के जन्म समय लोग खुशियाँ मनाते वही बच्चा बड़ा होने पर प्रतिकूल हो जाता है, आखिर प्रतिकूल तो होगा ही, क्योंकि सब अपनी-अपनी चाहते है, बिरला ही बच्चा ऐसा होता है जो अपनी स्वजनता के अनुकूल रह जाता हो। प्रायः स्थिति ऐसी ही है, फिर वे ही खुश होने वाले लोग कहने लगते हैं कि इससे तो अच्छा था कि बच्चा होता ही नहीं। अरे तेरी अपूर्व बात कहाँ गई? तू तो शराब पिये है, अभी कुछ। इस मोहमदिरा का पान करके यह मोही जीव अचेत हो गया। जब कभी इस जीव को सही ज्ञान जगे, इसकी मोहनिद्रा भंग हो, अपने आत्मा के आनन्दस्वरूप का अनुभव हो, तब समझिये कि ऐसा अपूर्व अवसर कभी न पाया था जबकि स्वानुभूति सुधारस का पान करके छका जा रहा है। वह अनुपम आनन्द कभी नष्ट न होगा। उस ही सम्यग्दर्शन के सम्बन्ध में वर्णन किया जायगा कि वह क्या है, किन-किन साधनों में होता है, कैसी दृष्टि रखनी चाहिये, कैसे इस वैभव की उपलब्धि हो? इस सम्बन्ध में वर्णन चलेगा।

**सम्यक्त्वविर्भाव के कारणों को जानने के लिये कारणों के प्रकारों की यथार्थ समझ बनाने की आवश्यकता—** जीव को सम्यग्दर्शन किन-किन निमित्तों के सम्पर्क में होता है? इसका वर्णन किया जायेगा। उसके पहिले कुछ आवश्यक बातें समझना जरूरी है। पहिली बात तो यह है कि कारणों में दो प्रकार बताये गए हैं, एक उपादान कारण और दूसरा निमित्त कारण और जो निमित्त कारण की बात है वह भी दो प्रकार की है— एक वास्तविक निमित्त कारण और दूसरा आश्रयभूत कारण, जैसे इन दो शब्दों को रख लीजिए— निमित्तभूत

कारण और आश्रयभूत कारण। लेकिन जब इन दो का भेद नहीं करते तब ही विवाद आ पड़ता है। आश्रयभूत को भी निमित्तभूत की तरह मानकर उठने वाले विवादों को बताने लगना और फिर निमित्तभूत को भी आश्रयभूत की तरह व्यर्थ बताने लगना। इन दो कारणों का मतलब यह है कि जैसे मनुष्य ने अपनी पुत्र स्त्री आदिक पर राग किया तो काम क्या किया? राग। तो अब यह बतलाओ कि उस राग के होने में निमित्तभूत कारण कौन है और आश्रयभूत कारण कौन है? निमित्तभूत कारण है कर्म का उदय, रागप्रकृति का उदय है, उसका निमित्त पाकर राग परिणाम हुआ और आश्रयभूत कारण हैं स्त्री पुत्रादिक का आश्रय करके रागभाव उत्पन्न होता है तो निमित्त कारणों के ये दो प्रकार भलीभाँति समझ लेना चाहिए— एक निमित्तभूत और दूसरा आश्रयभूत। निमित्तभूत कारण तो कर्म का उदय है रागपरिणमन में और आश्रयभूत कारण घर स्त्री पुत्रादिक बहुत से होते हैं। इन दोनों में अन्तर क्या है कि निमित्तभूत कारण का तो नैमित्तिक क्रिया के साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध होता है। निमित्त के होने पर ही विभाव हो सकना, कर्मोदय के होने पर ही विभाव हो सकना, कर्मोदय के न होने पर विभाव न हो सकना, यह अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध निमित्त का नैमित्तिक के साथ है, किन्तु आश्रयभूत कारण का अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध उस कार्य के साथ नहीं है। जैसे यह तो न कहा जा सकता कि स्त्री पुत्र के होने पर ही राग हो सकता और स्त्री पुत्रादिक के न होने पर राग नहीं हो सकता। ऐसी आपको अनेक स्थितियाँ मिलेंगी कि स्त्री पुत्रादिक होने पर भी राग न हो और स्त्री पुत्रादिक नहीं है तब भी राग कर रहा हो। आश्रयभूत कारण का कार्य के साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नहीं हुआ करता है।

**आश्रयभूत व निमित्तभूत कारणों का स्वरूप व अन्तर समझ बिना ही विवादों की उत्पत्ति—** बाह्य कारणों को आश्रयभूत और निमित्तभूत यों दो भागों में जो न बाँटेंगे, उनको ही विवाद उत्पन्न हो सकेगा अथवा वे विवाद की समाप्ति नहीं कर सकेंगे। शँकायें होने लगती हैं। यह जीव समवशरण में अनेक बार गया और सम्यग्दर्शन नहीं हुआ। तो देखो निमित्त कुछ न कर सका। अरे समवशरण सम्यग्दर्शन का निमित्त है कहाँ? वह तो आश्रयभूत है। निमित्त तो है दर्शनमोह का क्षय, उपशम और क्षयोपशम कुछ भी हो तो उसके होने पर सम्यक्त्व होता ही है तो आश्रयभूत के साथ कार्य का जब अन्वय व्यतिरेक नहीं नजर आता तो यह निर्णय बन जाता कि समस्त निमित्तों की ऐसी ही बात है कि निमित्त होने पर भी कार्य हो अथवा न हो, यह बात आश्रयभूत के साथ है कि आश्रयभूत पदार्थ होने पर भी कार्य हो अथवा न हो। एक दृष्टान्त दिया जाता है कि कोई नगर की एक वेश्या गुजर गयी, उसे जलाने के लिए लोग लिए जा रहे थे। उसे देखकर कोई साधुपुरुष यों सोचने लगा कि देखो- इस बेचारी ने सुयोग से कैसा अमूल्य नरभव पाकर अज्ञानतत्त्व के कारण व्यर्थ में खो दिया, यों उस साधु को धर्मध्यान हुआ, कोई कामी पुरुष उसे देखकर यह सोचने लगा कि यह वेश्या तो मेरे से बहुत परिचित थी यदि यह कुछ दिन और जीवित रहती तो मैं इससे और मिलता, यों

उस कामी पुरुष को रौद्रध्यान हुआ। वहाँ पर रहने वाले स्याल, कुत्ते आदि यह सोचने लगे कि इसे ये लोग जलायें नहीं, यहीं छोड़ दें तो हमारा कुछ दिनों का भोजन हो। यों उन स्याल, कुत्तादिक को दुर्ध्यान हुआ। तो कोई यहाँ विवाद करे कि देखो यदि वह वेश्या का मृतक शरीर निमित्त होता तो सबका एकसा भाव होता। तो निमित्त ने कुछ नहीं किया। यह शंका उनकी व्यर्थ है, वेश्या का मृतदेह उन भावों का निमित्त है कहाँ? वह तो आश्रयभूत साधन है। निमित्त तो मुनि महाराज के संज्वलन कषाय का उदय है और अनन्तानुबंधी, अप्रत्याख्यानावरण, प्रत्याख्यानावरण का उपशम क्षयोपशम है, सो उसके अनुसार उनका परिणाम बन रहा है। उस परिणाम के समय आश्रयभूत वह वेश्या का मृतक शरीर है। कामीपुरुष के भाव का निमित्त क्या है? उस प्रकार के कषाय का उदय और उस उदय में उस प्रकार का भाव बन रहा है। उस समय आश्रयभूत है वह वेश्या का मृतक देह। तो आश्रयभूत और निमित्तभूत साधन का अन्तर समझ लेना चाहिए। एक बात इस प्रसंग में न भूलनी चाहिए, निमित्तनैमित्तिकभाव की कितनी ही चर्चायें हों और होंगी ही अन्यथा ये शब्द ही कहाँ से आये? सम्बन्ध भी है इतने पर भी निमित्तभूत पदार्थ का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, कुछ भी अंश उपादान में नहीं पहुँचता। इस कारण यहाँ दृष्टि रखने की बात यह है कि निमित्त सन्निधान पाकर उपादान अपने में अपना प्रभाव उत्पन्न कर लेता है, बस यह स्थिति है जगत् में।

**आश्रयभूत, निमित्तभूत, बहिरङ्ग व अन्तरङ्ग हेतु का तात्पर्य—** इस प्रकरण में सम्यक्त्व के साधन की चर्चा चलेगी, उस प्रसंग में हमें क्या-क्या बातें समझकर रखनी है पहिले से, उनकी बात कर रहे हैं। पहिली बात तो यह ध्यान में रखें कि आश्रयभूत साधन और निमित्तभूत साधन में अन्तर है। निमित्त कहते किसे हैं? इसके विषय में अध्यात्मसूत्र में कहा है कि अन्वयव्यतिरेक सम्बंध वाला और अत्यन्ताभाव वाला पदार्थ निमित्त कहलाता है। जिसमें कार्य हो रहा है उस पदार्थ से निमित्तभूत कारण अत्यन्त जुदा है याने उपादान में निमित्त का अभाव है। उपादान में निमित्त का किसी भी प्रकार से सद्भाव नहीं है, किन्तु अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध हो उसे निमित्त कहते हैं। और आश्रयभूत का अत्यन्ताभाव भी है। उपादान में अन्वयव्यतिरेक सम्बंध भी नहीं है, आश्रयभूत और निमित्तभूत साधन में इतना अन्तर है। तो जब-जब निमित्त की चर्चा चले तो ये दो बातें स्पष्ट रखनी चाहियें कि ये निमित्तभूत कारण हैं या आश्रयभूत कारण हैं। दूसरी बात यह जानें कि कारण के वर्णन में दो बातों का प्रयोग चलता है- अन्तरङ्ग कारण और बहिरङ्ग कारण। अन्तरङ्ग कारण तो उपादान को कहते हैं और बहिरङ्ग कारण निमित्त को कहते हैं। बहिरङ्ग, बाह्यअङ्ग जिसमें कार्य हो रहा है उससे बाहर क्षेत्र में जो कुछ भी है वह सब बहिरङ्ग कहलाता है। तो अन्तरङ्ग हेतु शब्द उपादान के लिए निर्दिष्ट होता है और बहिरङ्ग हेतु शब्द निमित्त के लिए निर्दिष्ट होता है। कभी-कभी यह बताने के लिए कि हैं तो दोनों ही बहिरङ्ग उपादान के कार्य से भिन्न क्षेत्र में (प्रदेशों में) रहने वाले, लेकिन उनमें जिनका अन्वयव्यतिरेक सम्बंध हुआ है वह है

अन्तरङ्ग हेतु और जिनका अन्वयव्यतिरकसम्बन्ध नहीं है वह है बहिरङ्ग हेतु। यों मुकाबलेतन आश्रयभूत को बहिरङ्ग हेतु कह दिया जाता है, सो यों उन शब्दों के अर्थ जानने चाहियें।

**जीव के विभावकार्य के प्रसङ्ग में आश्रयभूत कारण की स्थिति—** एक मोटी बात और समझिये- जीव और अजीव, इन दो पदार्थों के सम्बन्ध में जब जीव के कार्य के लिए कारण बताया जाय तो वहाँ ये दो भेद आया करते हैं- आश्रयभूत कारण और निमित्तभूत कारण। किन्तु जीव और अजीव के कार्यों में परस्पर जब कारण की बात आयेगी तो दूसरा निमित्त कारण ही होता है, आश्रयभूत कारण नहीं हुआ करते। जैसे जीव ने क्रोध किया तो क्रोध किए जाने में निमित्त कारण तो है क्रोध प्रकृति का उदय और आश्रयभूत कारण है वह बाह्य पदार्थ जिसको उपयोग में रखकर वह क्रोध कर रहा है। जिस पर क्रोध आया वह पदार्थ आश्रयभूत कहलाता है। यहाँ यह बात कही जा सकती है कि उस पदार्थ का आश्रय न करता तो क्रोध यों न बनता अथवा आश्रयभूत कारण के न मिलने पर कभी-कभी प्रकृति का उदय न रहकर संक्रान्त होकर दूसरे रूप में फल देने लगता। इतनी तक स्थितियाँ भी आ जाया करती हैं। तो आश्रयभूत कारण इतना दुर्बल कारण है। पर अजीव पदार्थों के प्रसंग में किसी भी अजीव की कुछ क्रिया में दूसरा अजीव कारण पड़ा तो वह निमित्त कारण ही कहलायेगा, आश्रयभूत न कहलायेगा। उपयोगवान पदार्थ के लिए ही आश्रयभूत कारण हुआ करता है। यह उपयोग लगाये किसी पदार्थ पर तो आश्रयभूत बन गया। उपयोग लगाया तो आश्रयभूत बन गया। न उपयोग लगाया तो आश्रयभूत न बन सका, पर अजीव में यह बात नहीं है। घड़ी में चाबी भर दी तो वह चलती रहती है। हाँ कोई पेंच पुर्जा खराब हो जाय बंद हो जाय तो बात और है। सो वहाँ सर्वत्र सब ईमानदारी से काम चलता रहता है। जैसी योग्यता है वैसी योग्यता से वैसा निमित्त सन्निधान पाकर परिणम रहा है, वहाँ आश्रयभूत वाली बात नहीं है। आश्रयभूत कारण वाली बात जीव के विभावकार्य में ही हुआ करती है। जीव के शुद्धपरिणमन में भी आश्रयभूत कारण का भेद नहीं होता। जैसे धर्मादिक द्रव्यों में कोई आश्रयभूत कारण नहीं कहलाता यों ही जीव का जो शुद्ध परिणमन है इसमें भी आश्रयभूत कारण नहीं होता। केवल निमित्त कारण होता है और वह है कालद्रव्य।

**सम्यक्त्वविर्भूति के कारण का निर्देश—** कुछ कारणों की विधियाँ जानकर अब चलें सम्यक्त्व के साधन की खोज में। सम्यक्त्व के कारण क्या है, इस सम्बन्ध में श्री कुन्दकुन्दाचार्य देव की एक प्रसिद्ध गाथा है- सम्मत्तस्स णिमित्तं जिणसुत्तं तस्स जाणया पुरिसा। अन्तरहेऊ भणिया दंसणमोहस्स खयपहुदी।। इस गाथा में 'खयपहुदी' यह प्रथमान्त शब्द है। जब यह समझेंगे तब इसका अर्थ होगा कि सम्यक्त्व का निमित्त जिणसूत्र और जिणसूत्र के ज्ञायक पुरुष हैं और अन्तरङ्ग हेतु दर्शन मोहनीय के क्षय, क्षयोपशम आदिक है। यदि खयपहुदी को पंचम अर्थ में लिया जाय तो इस गाथा का अर्थ बनेगा- सम्यक्त्व के निमित्त जिणसूत्र हैं और उसके ज्ञायक पुरुष अन्तरङ्ग हेतु हैं, क्योंकि उनके दर्शनमोहनीय का क्षय आदिक होने से इन दोनों अर्थों की

विवेचना में अभी प्रथम अर्थ की विवेचना पर चलें। सम्यग्दर्शन का निमित्त जिनसूत्र है (जरा ध्यान में लाना) निमित्त कारण की बात जहाँ कही जाय वहाँ यह विवेक करना कि आश्रयभूत कारण है यह या निमित्तभूत कारण है? जैसे किसी पुरुष को सम्यग्दर्शन हो रहा हो, उसके लिए ये जिनसूत्र, आगम वचन निमित्त हो रहे हैं, तो ये आश्रयभूत निमित्त कहलायेंगे या निमित्तभूत? ये आश्रयभूत निमित्त कहलाते हैं, क्योंकि जिनसूत्र का सम्यक्त्व की आविर्भूति के साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है। जिनसूत्र उपदेश सबको हो रहा हो, पर वहाँ सबको सम्यग्दर्शन नहीं होता। जैसे समवशरण का सम्यक्त्व की आविर्भूति के साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध नहीं है सो वह आश्रयभूत है। और भी कारण हैं- जैसे वेदना का अनुभव, जातिस्मरण, ऋद्धिदर्शन आदिक कारण हैं वे भी आश्रयभूत कारण हैं। ऐसा होने पर सम्यक्त्व हो अथवा न भी हो, तो ये सम्यक्त्व के बाह्य निमित्त हैं अर्थात् आश्रयभूत कारण हैं और अन्तरंग हेतु कौन है? प्रथमान्त के अर्थ की बात चल रही है और उस जिनसूत्र के जानकार पुरुष ज्ञायक पुरुष ये भी बाह्य निमित्त हैं अर्थात् जो उपदेष्टा पुरुष हैं, ये उपदेष्टा जिन-जिन को सम्यक्त्व उत्पन्न हो रहा है उससे अलग हैं, भिन्न हैं, अत्यन्ताभाव वाले हैं। अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध यहाँ भी नहीं है। जिनसूत्र के ज्ञाता, जानकार उपदेश कर रहे हों तो क्या वहाँ भी सुनने वाले लोग सम्यक्त्व उत्पन्न कर लेते हैं? नहीं, पर यह भी आश्रयभूत कारण है, बाह्य कारण है और अन्तरंग कारण क्या है? दर्शनमोहनीय का क्षय, उपशम, क्षयोपशम आदिक। यहाँ अन्तरंग कारण का अर्थ उपादान कारण नहीं किन्तु निमित्त कारण है और ऐसा निमित्त कारण जो एक क्षेत्रावगाह में चल रहा हो। इसीलिए इसे अन्तः कहा गया है कि आत्मा जहाँ जिन प्रदेशों में रह रहा है उन प्रदेशों में ही ये कारण पड़े हुए हैं दर्शनमोह के क्षय, उपशम, क्षयोपशम। क्षयादि अवस्थाओं से युक्त कर्म ये अन्तरंग कारण कहे गए हैं जिनका अर्थ यह होगा कि जीव के सम्यक्त्व के उत्पन्न होने में उपदेश, आगम, उपदेष्टा ये सब बाह्य साधन हैं। और निमित्त कारण तो दर्शन मोह का उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदिक है। यह वर्णन है केवल निमित्त का। इसमें बाह्य साधन भी बताया है और अन्तः साधन भी बताया गया है।

**प्रकृत गाथा में निमित्तकारण व उपादान कारण का संकेत—** जब इस गाथा में प्रयुक्त खयपहुदी शब्द का पचमान्त अर्थ करेंगे तब अर्थ होगा यह जिसमें उपादान कारण और निमित्त कारण दो का विवरण आयगा। सम्यग्दर्शन के निमित्त कारण जिनसूत्र हैं। हैं ये आश्रयभूत कारण और जिनसूत्र के ज्ञायक पुरुष अर्थात् जिनको सम्यग्दर्शन होता है, जो मुमुक्षा को लिए हुए है, जिनको मुक्ति की इच्छा हुई है ऐसे जिनसूत्र के ज्ञायक पुरुष वे अन्तरंग कारण अर्थात् उपादान कारण हैं, याने जो जानेंगे, समझेंगे सूत्र के भाव को ऐसे पुरुष ही तो सम्यक्त्व उत्पन्न करते हैं। तो क्यों हैं वे उपादान कारण कि दर्शन मोहनीय का उपशम, क्षय, क्षयोपशम इनके ही तो होता है, इस कारण से ये उपादान कारण कहलाते हैं। यहाँ अन्तरहेऊ अर्थ उपादान



कारण बना और प्रथमान्त अर्थ में अन्तरंग हेतु का अर्थ वास्तविक निमित्त कारण है जिसका कि अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध है और साथ ही उस ही एक क्षेत्र में पड़ा हुआ है वह अन्तरंग हेतु कहलाता है।

**प्रकृत भागवत गाथा से उपलभ्य प्रेरणा—** हमें इस गाथा से प्रेरणा क्या मिलती है कि हम किस दिशा में प्रगति करें, तो उससे यह प्रेरणा मिली कि देखिये- ये सूत्र उपदेश, तत्त्वज्ञान, उपदेष्टाओं के संग, सत्संग ये सब सम्यक्त्व की अर्विभूति के साधन हैं। इनकी उपेक्षा न करें, इनमें रहना योग्य है और जो अन्तरहेतु हैं वे तो हमारे बस की बात नहीं है। दर्शनमोह का उपशम, क्षय क्षयोपशम हाथ पैर के द्वारा साध्य बात नहीं है। उसका उपाय तो तत्त्वज्ञान है, विचार है। तत्त्वज्ञान बनाये उसके प्रताप से क्षय क्षयोपशम आदिक की व्यवस्था बनने लगेगी। तो इतना पौरुष होना चाहिए तत्त्वज्ञान के लिए। हम महत्त्व दें जीवन में तो अन्तर्ज्ञान को महत्त्व दें। मुझे अपने आपके बारे में दृष्टि रहे, स्वयं के स्वरूप की समझ बने, मैं अपने आपको दृष्टि में लूँ, अपनी खबर रखूँ और अधिक तो नहीं कम से कम इतना तो जानता रहूँ कि मैं सर्वत्र अकेला हूँ। इस रूप में ही परिचय अधिक बने। सुख दुःख आदिक समस्त परिणमनों में मैं अकेला ही रहता हूँ। सब कुछ मुझ अकेले को ही करना होता है। मेरे सब काम मेरे द्वारा मेरे से मेरे में मेरे लिए ही हुआ करते हैं। मेरा किसी दूसरे से कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ऐसे अकेलेपन की बात ध्यान में रहे तो वहाँ भी बहुत सा मार्ग मिल सकता है और शान्ति प्राप्त हो सकती है। यह एक बहुत बड़ी भूल है, बहुत बड़ी विडम्बना है कि जो यह चित्त में लिए रहते हैं कि मैं अकेला कहाँ हूँ, मैं तो सपत्नीक हूँ, मैं तो पुत्रों वाला हूँ, मेरी तो इतनी जबरदस्त पार्टी है, मैं तो बहुत पुष्ट हूँ, शरणसहित हूँ, मेरे में अकेलापन कहाँ? इस प्रकार की वृत्ति जो चित्त में रहती है, यह एक इतनी बड़ी विपत्ति है कि इसमें किसी समय बहुत बड़ा धोखा खाया जा सकता है। सो भैया ! और अधिक नहीं तो अपने आपके बारे में अकेलेपन की बात किसी न किसी रूप में बनाये तो रहें। प्रत्येक जीव, प्रत्येक पदार्थ अकेला है, अद्वैत है, प्रत्येक सत् अपने आपमें अद्वैत है। उसमें दूसरे का प्रवेश नहीं है। इस तरह से अपने आपका तो कुछ ध्यान बनाये जो कुछ होगा वह मेरे अकेले से होगा, अकेले में होगा, मेरा साथी कोई दूसरा नहीं है, इस तरह अपने अकेलेपन की बात लाना शुरू करें तो यही कहलायेगा प्रारम्भ में समस्त तत्त्वज्ञान इस मर्म को उपयुक्त करने का। यहाँ से प्रारम्भ कीजिए। अपने आपको सर्वस्थितियों में अकेला मान लीजिए।

**वस्तु का स्वरूप—** अपने आपका सहज केवल विशुद्ध स्वरूप का परिचय पा लेना सम्यक्त्व कहलाता है। आत्मस्वरूप का सहजस्वरूप क्या है? यह समझने के लिए पदार्थ मात्र के स्वरूप की जानकारी पहिले कर लेनी चाहिए। पदार्थ अपने सत्त्वमात्र हैं। सभी पदार्थों की यही स्थिति है। प्रत्येक पदार्थ स्वतः सिद्ध है। किसी भी पदार्थ का सत्त्व किसी अन्य की कृपा से नहीं होता है। पदार्थ स्वयं सत् है अतएव स्वयं ही उत्पादव्ययध्रौव्य स्वरूप है। पदार्थ में उत्पादव्यय होना भी किसी अन्य की कृपा से नहीं है। यह पदार्थ में

स्वरूप ही पड़ा हुआ है कि वह निरन्तर उत्पादव्यय करता रहे। उत्पादव्यय भी उधार की चीज नहीं। तब पदार्थ की क्या स्थिति हुई? पदार्थ प्रतिसमय नवीन अवस्था में आता है, पुरानी अवस्था में विलीन होता है और ऐसा होता ही रहता है, अनन्तकाल तक होता है और ऐसा होता ही रहता है, अनन्तकाल तक होता ही रहेगा। यह है पदार्थ के निज की दुनिया। अपने आपका भी यही स्वरूप है। मैं हूँ और उत्पादव्ययध्रौव्य प्रकृति वाला हूँ, प्रतिसमय मुझमें उत्पादव्यय होता रहता है और यह उत्पादव्यय अनन्तकाल तक होता रहेगा क्योंकि पदार्थ स्वतःसिद्ध है, स्वतःसत् है, और सभी पदार्थ अपने सहाय पर हैं किसी दूसरे के सहाय पर नहीं।

**परिणमन का निर्णय और अपने उद्देश्य का निर्णय—** यह एक निर्णय की बात है कि पदार्थ में जब जो विभाव होता है वह विभाव होता है पदार्थों में पदार्थ से पदार्थ की परिणति द्वारा, किन्तु होता है वह किसी बाह्य निमित्त के सन्निधान में, अन्य प्रकार यों हो नहीं सकता था, लेकिन पदार्थ इस बात पर तुला नहीं है कि मैं ऐसा ही बनूँ। उसका सहज रूप है उत्पादव्यय करना, किन्तु विभावपरिणति में योग्यतानुसार व सहज निमित्त सन्निधान जैसा हो, उस रूप परिणमता है। ये सब निर्णय करने के बाद जब अपने आपके कल्याण के साधनों का प्रश्न आता है कि हमको अपनी साधना के लिए क्या करना चाहिए? वहाँ केवल एक ही उत्तर है, एक ही आन्दोलन है कि अपने सहज स्वभाव की दृष्टि करें। यह जीव अनादिकाल से रागादिक से दूषित है, इसमें बड़े विकल्पों के संस्कार पड़े हैं। ऐसा कुटेव हटना बड़ा कठिन हो रहा है। कुछ तत्त्वज्ञान भी पा लिया, समझ लिया। इतने पर भी जैसा इनका संस्कार है उसका कुछ न कुछ रूप उखड़ आता है। ऐसी स्थिति में हमें अपना व्यवहार किस प्रकार का बनाना चाहिए कि जिसमें ऐसी पात्रता रहे कि हम स्वभावदृष्टि कर सकने के लायक बने रहें। बस इसी को कहेंगे व्यवहारधर्म। व्यवहारधर्म उद्देश्य नहीं होता, व्यवहारधर्म परिस्थिति में करने की चीज होती है। उद्देश्य है सहज स्वभाव का अनुभव करना।

**निमित्त दृष्टि न करके उद्दिष्ट तत्त्व की दृष्टि की साधना में आवश्यकता—** सहजस्वभाव का अनुभव कैसे बने? यह अनुभूति ज्ञानसाध्य है और साथ ही किस ज्ञान द्वारा साध्य है, इसका विश्लेषण किया जाय तो उसमें यह बात आ ही जायगी कि चारित्र्य बिना यह बात बन न सकेगी। हम अपने आपके मन को संयत न रखें, इधर उधर के विकल्प बनाये रहें तो हम उस दृष्टि को कैसे कर सकेंगे? उसके लिए कितना अन्तःसंयम चाहिए, कषायों पर कितनी विजय चाहिए, यह वही पुरुष जान सकता है जो स्वभाव के अनुभव के लिए तुल चुका है। इस साधना के पथ में केवल एक ही प्रोग्राम है। बस स्वभावदर्शन करें, उपयोग में अपने अन्तःतत्त्व को बिठलावें, बस यह एक दृष्टि रहती है। यद्यपि इस दृष्टि को हम कर रहे हैं मनुष्यभव में। कहीं कीड़ा मकौड़ा होते तो इस दृष्टि के करने के पात्र थे क्या? न थे। तब कह देंगे कि निमित्त है मनुष्यभव आज हमारी स्वभावानुभूति के लिए। परन्तु मैं मनुष्य हूँ और यह मनुष्यभव स्वानुभव का कारण है। हम तो कल्याण कर

सकते हैं तो यों दृष्टि को बैठाल दें तो साधना की बात बन सकेगी क्या? साधना के पथ में केवल एक निज सहज अन्तस्तत्त्व की दृष्टि चाहिए। उसके लिए ये सब बातें चाहिए।

**बिल्कुल असंयत चित्त में स्वभावदर्शन की पात्रता की कठिनाई—** अब जरा एक मोटी सी ही बात समझ लीजिये- जो अनेक बार (बीसों बार) खाने पीने वाले लोग हैं, जो भक्ष्य अभक्ष्य का कुछ भी विचार नहीं करते, अब आप सोचिये कि उनकी बुद्धि कितनी जगह फैल गई? तो वहाँ ऐसे स्वभावदर्शन की पात्रता होगी क्या? तभी तो बताया है कि अपनी-अपनी परिस्थिति के अनुकूल कुछ संयमपने से रहें। आप आदत बना लो- एक बार, दो बार, चार बार आहर लेना, इतनी-इतनी चीजें ही खाना है, अन्य चीजों का विकल्प नहीं करना है। जहाँ इतना ही साहस नहीं हो पा रहा कि अभक्ष्य पदार्थ हैं, साक्षात् मांस, अंडा आदि तो प्रकट अभक्ष्य कहे ही है। मदिरा आदि के व्यसन में रहने वाले जीवों को धर्मसाधन की दृष्टि बनेगी कहाँ से? गोभी का फूल तो एक मांस का ही रूप है। मांस ये कम चीज नहीं है जहाँ कितने ही कीड़े भरे हुए हैं, कोई गीला रुमाल उस गोभी के फूल ऊपर रख दिया जाय तो उस पर कीड़े चढ़ आते हैं। हमने ऐसा कराके देखा भी है। तो क्या घर में गोभी का फूल रखने के काबिल है? चौके में अगर गोभी का फूल आ गया तो समझ लो वह चौका अपवित्र हो गया, मरघट बन गया। तो जो लोग गोभी के फूल का भक्षण करते हैं उनमें धर्म की आशा ही क्या रखी जा सकती है? अगर कोई कहे कि भैया गोभी का फूल छोड़ दो तो छोड़ने का चित्त नहीं चाहता। अब आप सोचिये कि गोभी का फूल खाने वाले, उसके त्याग की हिम्मत न करने वाले लोग कितना धर्म से परान्मुख हैं? ऐसी अनेक बातें हैं, जो हैं तो छोटी-छोटी बातें, लेकिन उनका फँसाव बहुत बड़ा है। तो हमें अपना व्यवहार ठीक रखना है और इस दुर्लभ मानवजीवन को सफल करना है, इस नरजीवन में कोई अपूर्वलाभ लूटना है ऐसी बात चित्त में अवश्य आनी चाहिए, बढ़े चलो धर्मसाधन के पथ पर, उसमें कितनी ही बाधाएँ आयें, पर अपने में इतनी मजबूती रखें, इतना साहस रखें कि धर्मपथ से विचलित न हों। तो एक इस दृष्टि से जो चलता है उसे सम्यक्त्वलाभ होता व, उसकी यहाँ कथा चल रही है। अभी तो अंतःसाधना की बात बतायी, अब जरा बाह्यसाधन की बात कह रहे हैं।

**सम्यक्त्वलाभ के लिये जिनसूत्र का उपकार—** देखिये सम्यक्त्व का लाभ होता है तो वहाँ कैसे क्या-क्या निमित्त होते हैं? प्रधान निमित्त है जिनसूत्र। जिनसूत्र का अर्थ अक्षर नहीं, कागज नहीं, और केवल एक ऊपरी अर्थ नहीं किन्तु भाव है जिनसूत्र। उसका मर्मज्ञान समझ में आये ऐसा बोध हो। यह इसका खास कारण है। जिनसूत्र से कितना प्रेम था श्रीमद्राजचन्द्रजी को? उसको एक घटना बताती है कि जब उनको किसी ने समयसार का एक ग्रन्थ भेंट किया, तो उसके एक दो श्लोक बांचकर वे इतना गद्गद् हो गए कि मानो बहुत बड़ी विभूति पा ली हो। उन श्लोकों को पढ़कर उन्हें एक अनुपम ज्ञानप्रकाश जगा। जब उस ग्रन्थदातार पर दृष्टि गई तो दुकान पर रखे हुए बहुत से रत्न जवाहरात मुट्टी में भरकर उसे दे डाले? अब वहाँ क्या हिसाब

लगाया जाय कि कितना धन दे डाला? अगर कोई उस लागत का हिसाब लगाये तो कहते हैं कि अरे वाह रे वाह, हे विकल्प करने वाले पुरुष ! तू करता रह विकल्प, पर तू अपने अंतःमर्म की बात पाने का अभी पात्र नहीं है, जिनसूत्र का आदर सम्मान भक्ति कितनी होनी चाहिए, इस बात को दूसरा क्या जाने? जिनका होनहार योग्य है, जो इस पथ में लगते हैं उनको ही महिमा विदित होती है कि इस जिनसूत्र का हम पर कितना बड़ा उपकार है। भले ही पढ़ जाते हैं विनितियों में कि “जो नहि होत प्रकाशन हारी, तो किह भँति पदारथ पाँति, कहाँ लहते रहते अविचारी” अरे यदि यह जिनागम न होता, वस्तुस्वरूप को बताने वाला यह शास्त्र न होता और इनका संग व इनका बोध न होता तो हम आपको काम बहुत पड़ा है करने के लिए। शरीर से हम सदा के लिए विदा हो जायें। मैं केवल मैं ही रह जाऊँ, काम यह करना है। जैसे कोई बड़ा व्यापार करने को कोई सोचता है तो वह सोच लेता है कि चाहे बीसों वर्ष बाद इसका लाभ दिखे, पर हमें तो इसे करके रहना है, ऐसे ही सोच लो कि हमें तो एक आत्मकल्याण का कार्य करना है, चाहे सफलता पाने में कई भव लग जायें। किसी भी भाँति मैं शरीर से सदा के लिए बिदा हो जाऊँ।

**शरीर से प्रविमुक्त होने के उद्देश्य में विचार—** यह नाक, आँख, कान आदिक की सूरत अगर ऐसी मिल गई जिसकी कि फोटो खिचवाते तो उसमें तेरा धरा क्या है? जिस शरीर को देखकर तू इतराता है, जिसे तू अपना समझता है, जिसके पीछे अनेक प्रकार की परेशानियाँ सहता है, उस शरीर के अन्दर है क्या चीज? खून, मांस, मज्जा, मल, मूत्र आदिक अपवित्र वस्तुवें ही तो इसके अन्दर भरी हुई हैं। अरे इतना अपवित्र देह, यही तेरा सर्वस्व है क्या? अरे तू इन बातों को छोड़, अपने आपमें स्वभावतः अंतःप्रकाशमान जो शुद्ध चैतन्यस्वरूप है उसको निरख। जिसका पहिचाननहार यहाँ दूसरा कोई नहीं है। तू तो खुद में खुद को पहिचानता हुआ खुद अपने आपमें आराम पा। बाहर से तुझे कुछ न मिलेगा। ऐसे शरीर से सदा के लिए हम अलग रहें, अलग हो जायें, ऐसी स्थिति पाना सरल भी है और कठिन भी है। कठिन तो दिख ही रहा। पर इस कठिन बात को पाने के लिए बड़े बड़े त्याग और बलिदान चाहिये। यदि आज उपसर्ग है, शरीर रोगी है, उपद्रवी है, तो वहाँ पर भी भेदविज्ञान की ज्योति जगायी जाय। अपनी उस धुन को मत छोड़ो, धीरता मत खोओ। कैसी भी परिस्थितियाँ आयें उनमें दिल मत लुभावो। अमुक आदमी तो धनिक बन गया, हम कुछ भी नहीं हैं। हमारे पास तो बहुत कम धन है। अरे यह क्या हिसाब लगाते? अगर वह कुछ धनिक हो गया तो उससे उसके आत्मा को लाभ क्या? जो भी उसके पास धन है वह तो दूसरों के भोगने के लिए है। कोई किसी भाँति भोगे, कुछ भी करे। मान लो आपके पास धन कम है तो उससे आपके आत्मा में कुछ कमी हो गयी क्या? आत्मा तो अपने आपमें परिपूर्ण है। वह अधूरा नहीं है।

**आत्मा की शाश्वत परिपूर्णता—** आत्मा के अधूरेपन की बात तो दूर रही, जिस समय जो पर्याय होती है वह पर्याय उस एक समय में पूरी है, अधूरी नहीं है। लोग तो कल्पना में कहा करते हैं कि यह काम अधूरा पड़ा

है, पर अधूरा कुछ होता ही नहीं दुनिया में। तुमने सोच लिया कि 5 खण्ड का मकान बनाना है अभी इतना ही काम हो पाया है, केवल तीन ही खण्ड बन पाये है, अभी तो यह अधूरा काम है, पर काम कोई अधूरा नहीं होता। उस मकान के बनने में जो ईंट, पत्थर, लोहा आदि पड़े हैं वे सब अपने आपमें पूरे हैं। वहाँ अधूरा कुछ नहीं है, हाँ आपकी कल्पना में अधूरा है। संसार में जीवों के रागपरिणति होती है और यह उपयोग इतना निर्बल है कि अन्तर्मुहूर्त में उसका रस ले पाता है। जब अन्तर्मुहूर्त राग प्रवाह चलता है तब हम उसका रस लेते हैं तो एक समय में जो रागपरिणति होती है क्या वह अधूरी है? वह तो परिपूर्ण है। परिणति तो अपने प्रत्येक समय में पूरी है, अधूरी हो नहीं सकती। यहाँ क्या विचार करते? मैं अपने आपमें परिपूर्ण हूँ, अखण्ड हूँ, एक चित्स्वरूप मात्र हूँ, उस पर दृष्टि दें और इस लौकिक परिचय को भट्टी में झोंके, जिसके कारण अनेक विकल्प उत्पन्न होते हैं।

**लौकिक परिचय का मिथ्यापन—** भैया ! परिचय ही यहाँ क्या है? परिचय है कहाँ? कौन जानता है मुझे? लोग जिसे जानते हैं, जिसे कहते हैं वह तो एक पुद्गल है। अथवा इसको भी नहीं जानते। लोग तो अपने आपमें परिणमित होने वाले ज्ञानपरिणमन को जानते हैं निश्चय से। जानने तक का भी सम्बन्ध परपदार्थ से नहीं है, वे परपदार्थ को जानते नहीं। किन्तु सभी जीव अपने आपके प्रदेश में रहकर अपने आपके ज्ञानगुण में जो परिणमन होता है उस परिणमन के रूप में ज्ञेयाकार के ढंग से जानन किया करते हैं। तब परखा ना कि जाना किसको? और सम्बंध इतने बनाये जा रहे हैं विचित्र-विचित्र तो इस पर हंसने वाला कौन है? जहाँ मोही-मोही ही भरे पड़े हों और मोह की गलती की जा रही हो तो उस गलती पर हास्य करने वाला कौन होगा? यहाँ हंसी तो आती होगी उन पर जो कुछ मोह से अलग होना चाहते हैं और एक मोह व्यवहार से कुछ परे बन रहे हैं। मजाक तो उनकी चलेगी इस मोही जगत में, लेकिन यह मजाक मिथ्या है, क्योंकि मोहियों की बात है। सब परिपूर्ण हैं, मैं भी परिपूर्ण हूँ। अपने आपको कभी यह न सोचें कि मैं इस समय असहाय हूँ, अशरण हूँ, कोई मेरा शरण नहीं। मैं सत् हूँ और सत् के नाते स्वसहाय हूँ, मैं कभी नष्ट हो नहीं सकता। यदि मैं नष्ट हो जाऊँ तब तो बड़ी ही अच्छी बात है। यदि मैं ही न रहा तो फिर दुःख भोगने की बात ही कहाँ से होगी? पर होता कहाँ है ऐसा?

**आत्मनिर्णय द्वारा कल्याणपथ में प्रगति करने की प्रेरणा—** भैया ! अपने आपका निर्णय करना है कि मैं क्या हूँ? मैं हूँ सबसे अपरिचित केवल चित्स्वभावमात्र, प्रतिभासमात्र एक अखण्ड पदार्थ। जो स्वयं उत्पादव्ययध्रौव्यस्वरूप है जिसकी दुनिया बस वही-वही है, जिससे बाहर कुछ नहीं है। उसमें जो कुछ है वह कभी अलग हो नहीं सकता। उसमें जो कुछ नहीं है वह कभी आ नहीं सकता। ऐसे अपने स्वतःसिद्ध स्वसहाय चैतन्यस्वरूप में अपने को निरखना है और ऐसा निरखने की प्रकृति बनाना है। यही दृष्टि रखें। यही करना है साधना के पथ में। यहाँ दुनिया में किसी भी प्रकार हमारा कोई मददगार नहीं है। उलाहना देना व्यर्थ

है, सब अपने-अपने सत्त्व के भरे हैं। तो सत्त्व के अनुरूप अपना काम कर रहे हैं। यहाँ कोई खुदगर्ज नहीं है। हम ऐसा मन में मत सोचें कि सारे जीव खुदगर्ज हैं। यहाँ कोई खुदगर्ज नहीं और वस्तुतः हम आप सभी खुदगर्ज हैं। सभी पदार्थ अपने सत्त्व के लिए परिणम रहे हैं, न परिणमे तो सत्त्व न रहेगा। यही तत्त्व है, ऐसा जानकर पर से ज्यों-ज्यों उपेक्षा जगेगी त्यों-त्यों अपने आपकी ओर उपयोग चलेगा और फल यह होगा कि उस सहज स्वभाव की अनुभूति होगी। इस ही उपाय से जीव का कल्याण होता है।

**सम्यक्त्व के निमित्त—** सम्यग्दर्शन के आश्रयभूत साधन और निमित्तभूत साधन के सम्बंध में कुछ विचार किए जा रहे हैं। आश्रयभूत साधन तो जिनसूत्र है। यों साधन अनेक होते हैं, पर उन बाह्य साधनों में जिनसूत्र प्रमुख साधन है, यहाँ जिनसूत्र का अर्थ है कि जिन पुरुषों ने रागद्वेष पर विजय प्राप्त किया है और उसके फल में पूर्णज्ञान प्राप्त किया है ऐसे वीतराग सर्वज्ञदेव की दिव्यध्वनि की परम्परा से जो कुछ रचना है, आगम है वह जिनसूत्र कहलाता है। जिनसूत्र की मुख्य पहिचान क्या है कि जहाँ स्याद्वाद की तो मुद्रा लगी हो और वीतरागता के मार्ग पर चलने की जिसमें प्रेरणा बसी हो, ऐसा यह जिनसूत्र सम्यक्त्वविर्भूति का आश्रयभूत साधन है। सम्यक्त्व का निमित्तभूत कारण क्या है? दर्शनमोहनीय कर्म का उपशम, क्षय, क्षयोपशम। इस सम्बन्ध में इतना और जानना है कि दर्शनमोह का क्षय क्षयोपशम बताया तो यहाँ एक मुख्य प्रणाली से बताया, पर होता है सात प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम। अनन्तानुबन्धी क्रोध, मान, माया, लोभ और मिथ्यात्व, सम्यक्मिथ्यात्व और सम्यक्प्रकृति- ये 7 प्रकृतियाँ सम्यक्त्व की घातक हैं। अनन्तानुबन्धी की 4 प्रकृतियाँ हैं सो वे चारित्र की भी घातक हैं और सम्यक्त्व की भी घातक हैं, अतएव चारित्रमोहनीय के भेद में कहा है, पर अनन्तानुबन्धी के रहते हुए मिथ्यात्व हट ही नहीं सकता, अतः इन प्रकृतियों का उपशम, क्षय, क्षयोपशम का होना यह सम्यग्दर्शन का निमित्त कारण है।

**आत्मभाव और कर्म दोनों परस्पर निमित्तत्व का अवसर—** निमित्त कारण की बात दोनों ओर से है। कर्मों में कोई अवस्था बनी उसमें निमित्त कारण जीव का भाव है, और जीव के भाव की कोई अपूर्व अवस्था आये उसका कारण किसी अवस्था से युक्त कर्म है। परस्पर दोनों का निमित्तनैमित्तिक भाव है, केवल कर्म की ओर से ही न समझना कि जीव के भाव बनने में कर्म निमित्त हैं, कर्म की दशा भी कुछ से कुछ बनने में जीव का भाव निमित्त है। निमित्तनैमित्तिक में होता क्या है कि निमित्त कोई परिणति उपादान में नहीं देता, पर उसका सन्निधान रहता है और उपादान में ऐसी योग्यता होती है कि योग्य निमित्त सन्निधान पाकर वह अपने में अपने परिणमन से अपना प्रभाव बना लेता है। प्रभाव कहने की रूढ़ि निमित्त के साथ पड़ गई है पर प्रभाव नाम है किसका? प्रकर्षरूप से होने का नाम है प्रभाव। अब जहाँ जो बात हो रही है वह तो प्रभाव है और उसका ही प्रभाव है, पर यह प्रभाव जिस निमित्त सन्निधान को पाकर हुआ है वह उसका प्रभाव है, यों व्यवहार से कहा जाता है। जैसे दर्पण में हाथ की छाया पड़ी, असल में वह हाथ की छाया नहीं है, पर

जल्दी-जल्दी इन्हीं शब्दों में कह दिया जाता है ताकि उसका जल्दी बोध हो जाय। हाथ के सन्निधान का निमित्त पाया और दर्पण स्वयं छायारूप परिणम गया। अब छायारूप परिणमन हुआ उसका नाम है प्रभाव। छायारूप परिणमन हुआ वह किसका है? दर्पण में हुआ, दर्पण का है, पर यह भी प्रकट स्पष्ट है कि हाथ का निमित्त पाकर यह हुआ है। न होता उस प्रकार का निमित्त सन्निधान तो उस प्रकार का परिणमन वहाँ नहीं होता। यद्यपि एक दृष्टि से देखा तो निमित्त दिखता ही नहीं। पदार्थ है और वह तीनों कालों में रहने वाला है। पर अवस्था बिना वह पदार्थ रह सकेगा क्या? तो पदार्थ में तीन काल की अवस्थायें पदार्थ में पदार्थ की योग्यता से परिणमित होते रहते हैं। बस यों ही निरखते जाइये। एक बात दिखेगी, एक दृष्टि में यह बात आती है, पर निर्णय की दिशा में जब चलते हैं तो सर्वतोमुखों से निर्णय किया जा सकेगा। तो एक दृष्टि में यह भी बात आयी कि जितने भी विभाव हुए अथवा अपूर्व काम हुए वे किसी योग्य निमित्त सन्निधान को पाकर हुए हैं, अन्यथा न हो सकते हैं अन्यथा न हो सकते थे। ऐसा परस्पर में जीव के भाव में और कर्म की दशा में निमित्तनैमित्तिक सम्बंध है। तो जीव तत्त्वज्ञान करे, चिन्तन करे, कुछ मंदकषाय होने से इससे आगे बढ़े तो उसकी ये बातें ही सम्यक्त्वघातक प्रकृतियों में कुछ थोड़ा बहुत अदल-बदल कर सकने की पात्रता आये, इसमें कारण बनता है और जिसे उपशम, क्षय, क्षयोपशम होता है वह कारण बनता है सम्यक्त्व के अविर्भाव का जिस जीव ने अब तक कभी भी सम्यक्त्व नहीं पाया, प्रथम ही बार उसके सम्यक्त्व जगता है तो उसके आविर्भाव में इन 7 प्रकृतियों का उपशम निमित्त होता है।

**सम्यक्त्वविर्भाव में करणलब्धि की प्रयोजकता—** अनादिमिथ्यादृष्टि जीव के सम्यक्त्व हो तो उपशम सम्यक्त्व हो पाता है और उपशम सम्यक्त्व में भी प्रथमोपशम सम्यक्त्व। प्रथमोपशम सम्यक्त्व का यह अर्थ नहीं कि जीव को सबसे पहिले जो उपशम सम्यक्त्व जगा उसका नाम है प्रथमोपशम सम्यक्त्व। उसका अर्थ यह है कि मिथ्यात्व के बाद जो उपशम सम्यक्त्व हुआ उसका नाम प्रथमोपशम सम्यक्त्व है। किसी जीव को प्रथमोपशम सम्यक्त्व हो गया था। फिर पल्योपम सागरों परिमाण समय व्यतीत हो गया मिथ्यात्व में। अब फिर जो उपशम सम्यक्त्व होगा उसका भी नाम प्रथमोपशम सम्यक्त्व होगा। द्वितीयोपशमसम्यक्त्व क्या है? उसका यह अर्थ नहीं है कि दूसरी बार उपशम सम्यक्त्व हो सो द्वितीयोपशम सम्यक्त्व। क्षयोपशमसम्यक्त्व के बाद जो सम्यक्त्व हो सो द्वितीयोपशम सम्यक्त्व है। प्रथमोपशम सम्यक्त्व व द्वितीयोपशम सम्यक्त्व का लक्षण है कि मिथ्यात्व अवस्था के बाद जो उपशम सम्यक्त्व होता है उसका नाम है प्रथमोपशम सम्यक्त्व और क्षयोपशमिक सम्यक्त्व के बाद जो उपशम सम्यक्त्व हो उसका नाम है द्वितीयोपशमसम्यक्त्व। जीव को क्षयोपशमलब्धि विशुद्धलब्धि प्राप्त होने के बाद देशनालब्धि प्राप्त हुई याने उपदेश का अवधारण करने का सामर्थ्य जगा, इसके बाद होती है प्रायोग्यलब्धि, जिससे जीव की अनेक कर्मप्रकृतियाँ के हीन स्थिति के बंध होने लगते हैं और अनेक प्रकृतियों के बंध रुक जाते हैं। इतने विशेष काम अभव्य जीव तक के हो जाया

करते हैं। पर करणलब्धि अभव्य को प्राप्त नहीं होती। करणलब्धि में लब्धि तीन प्रकार की हैं- अधःकरण, अपूर्वकरण और अनिवृत्तिकरण। गुणस्थानों के नामों में आठवें व नवमें गुणस्थान के नाम आये हैं अपूर्वकरण व अनिवृत्तिकरण। यहाँ अधःकरण है सातिशय अप्रमत्तविरत नाम के सातवें गुणस्थान में। सो ये करण हैं चारित्र को प्राप्त करने के लिए। करणलब्धि केवल 8 वें, 9 वें गुणस्थान की बात हो सो नहीं, किन्तु ये तीन प्रकार के परिणाम होते हैं, सम्यक्त्व हो तब होते हैं, देशसंयम हो तब होते हैं। इतना अंतर है कि देशसंयम होने के लिए दो प्रकार होंगे अधःकरण और अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण नहीं होता। थोड़ा इसका स्वरूप बतायें तो यह भी कारण मालूम होता जायेगा कि देशसंयम के, महाव्रत के उत्पन्न होने में 3 करण क्यों नहीं हुआ करते, अधःकरण और अपूर्वकरण- ये दो ही क्यों होते हैं?

**तीन करणों का संक्षिप्त निर्देश—** अनन्तानुबन्धी के विसंयोजन में, दर्शनमोहनीय के क्षय में अथवा उपशम में 3 करण हुआ करते हैं। यह बात लक्षण के जानने से विदित हो जायेगी। अधःकरण परिणाम ऐसा परिणाम कहलाता है कि जिसकी साधना के समय में ऊपर के होने वाले साधक के परिणाम नीचे के होने वाले साधक के साथ मिल सकते हैं। कल्पना करो— एक पुरुष को अधःकरण में चढ़े हुए 6 समय हो गए हैं और एक पुरुष को अधःकरण में आये हुए 3 समय हुए हैं— कहीं ऐसा भी हो सकता है कि अधःकरण के तीन समय वाले का परिणाम उस छठे समय के बराबर हो जाय। तो ऐसा जहाँ उच्च समय के परिणाम की समानता नीचे भी हो सकती हो, उसे कहते हैं अधःकरण परिणाम। किसी एक काम की तैयारी के लिए जब कोई चलता है तो काम में जहाँ समता आती है, पूर्ण तैयारी होती है उसके बीच 3 स्थितियाँ हो जाती हैं। जैसे जब कभी बच्चे लोगों को (पाठशाला के बालकों में) दौड़ लगाने का व्यायाम कराया जाता है तो एक, दो, तीन बोलते हैं। जब एक कहा तो सभी बालक एक समान तैयार न मिलेंगे, कोई बालक पीछे होगा कोई आगे। जब 2 कहा गया तब भी सब बालक समान तैयार न मिलेंगे, लेकिन जब 3 कहा गया तो सभी बालक एक समान तैयारी में मिलेंगे। और भी देखिये— सिपाहियों को जब उनका कमाण्डर बुलाता है तो उनकी पहिली की तैयारी में विषमता रहती है। कोई सिपाही बैठा है, कोई खड़ा है। दूसरी तैयारी में कुछ समता हो जाती है, और तीसरी तैयारी में सभी सिपाही ठीक लेफ्ट राइट सहित एक समान एक ढंग से हो जाते हैं। तो यों ही समझ लीजिए कि एक कोई काम करना है, उपशम है तो उससे पहिले ये 3 प्रकार की तैयारियाँ की जाती हैं। अधःकरण में समयभेद से विषमता है, अपूर्वकरण में एक समय के साधकों में विषमता है और अनिवृत्तिकरण में एक समय के साधकों की पूर्ण समता है। यहाँ पूर्ण साधना आ जाया करती है। तो बताया था कि जब देशविरत होता है तो वहाँ इसको अनिवृत्तिकरण नहीं होता। अनिवृत्तिकरण होने में जो बात बनती है वह सब एक समान होगी, पर देशसंयम की बात एक समान कहाँ होती? हाँ दर्शनमोह का उपशम हो, अनन्तानुबन्धी का विसंयोजन हो, चारित्रमोह का क्षय हो, चारित्रमोह का उपशम हो ऐसे कार्य ये



सब एक समान होते हैं। वहाँ 3 कारण होते हैं। तो जीव को जब प्रथम बार सम्यक्त्व लाभ होता है तो उसके 7 प्रकृतियों का उपशम होता है, प्रथमोपशमसम्यक्त्व तब हुआ करता है।

**सम्यक्त्वाविर्भूति के प्रसङ्ग में प्रकृतियों का विसंयोजन व उपशम—** अनन्तानुबन्धी की चार प्रकृतियों का सबसे पहिले विसंयोजन होगा, फिर उपशम होगा, फिर दर्शनमोह का उपशम होगा। इसका मतलब क्या? उपशम का जब समय आयेगा। उस समय में उस स्थिति का उदय आ सकने योग्य स्थिति वाला अनन्तानुबन्धी रहेगा ही नहीं। इसका मैदान साफ रहेगा। इसके लिए कल्पना करो— जैसे कोई वकील है और वह धर्म का बड़ा अनुरागी है, उसकी पेशी प्रत्येक माह में प्रायः प्रतिदिन लगती है। अब आषाढ़ के दिनों में उसने सोचा कि भादों की दशलाक्षणी में हमें किसी की पेशी में नहीं जाना है, हमें तो धर्मपालन करना है। तो वह वकील क्या करेगा कि दशलाक्षणी के दिनों में पढ़ने वाली पेशी को आगे या पीछे करवाने का आषाढ़ से ही उद्यम करेगा। जब उसका यह पुरुषार्थ चलेगा तब भादों लगने से पहिले उसी समय से दशलक्षणपर्व साफ हो जायगा कि दशलाक्षणी के दिनों में कोई पेशी नहीं है। यह हो गया उसका विसंयोजन कि उन दिनों में तो पेशी की कोई तारीख ही नहीं है। जाना कहाँ से पड़ेगा? तो उपशम सम्यक्त्व के काल में उस स्थिति की कषाय ही नहीं है। कषाय होगी ही कहाँ से? इसके पुरुषार्थ से होता यह है कि जैसे मानो कि किसी विवक्षित एक दो सेकेण्ड के लिए उपशम सम्यक्त्व होता है तो उन एक दो सेकेण्डों का जब समय आयगा उससे पहिले यह स्थिति बन जायगी कि कुछ कषायें पहिले कुछ कषायें बाद की स्थितियों में शामिल हो जायेंगी। उस समय की कोई कषाय स्थिति अनन्तानुबन्धी की न रहेगी। विसंयोजन के लिए तीन करण हुए। इसके बाद फिर उपशम में तीन करण हुए। यों करणलब्धियों के बल से यह जीव सम्यक्त्व लाभ करता है। करणलब्धि मायने परिणामों की प्राप्ति। ऐसे परिणाम पाना।

**वर्तमान की संभाल पर सारी संभाल की निर्भरता—** अब हम इन बातों के कुछ बाहर पड़े हुए हैं, बाहर की बातें हैं, ऐसा सोचकर बाहर निरखेंगे तो हमें अन्तः कुछ लाभ न होगा। है क्या वह सब? कुछ भी हो। आपको मिलेंगी आपके पौरुष से सब चीजें स्वयं। किसी मनुष्य को गिनती भी नहीं आती और कमाई करना अच्छा जानता है, तो मत आवें गिनती, सब कुछ प्राप्त तो ही रहा है, इसी तरह इन बातों की जानकारी भी अधिक न हो, फिर भी यदि अपना पुरुषार्थ अन्तःभावों को संभालने का चलता है तो समझो कि आप बहुत बड़ा लाभ हासिल कर रहे हैं। कहा भी है कि एकै साधे सब सधे- अर्थात् एक अपने आपके परिणामों को संभाल लिया तो समझो कि सब कुछ सध गया। क्या होगा हमारे भविष्य में, वह स्वयं हो जायगा, पर संभाल करना है अपने आपको वर्तमान परिणामों की। अपने वर्तमान परिणामों को यदि न संभाल सके तो फिर क्या संभाल सकेंगे? संभाल तो सारी यही है। अपने समस्त भविष्य के निर्माण की बात तो वर्तमान संभाल पर आधारित है। जैसे कुछ लोग सोचा करते हैं कि मैं इतना धन कमा लूँ, इतनी सम्पत्ति जोड़ लूँ,

बाद में हम सब झगड़े छोड़कर सिर्फ धर्मध्यान में लगेंगे तो उनका यह कहना गलत है। ऐसा सोचने वाले लोग अपने वर्तमान समय के परिणामों को संभाल रहे हैं क्या? वे सिर्फ बात बना रहे हैं। जब उनकी वैसी स्थिति बन जाती है तो होता क्या है? कि वे और भी फंस जाते हैं। उससे निकल नहीं पाते। अब क्या हो गया? अरे यों हो गया कि विचार तो उन्होंने रखा था, पर अपने वर्तमान परिणामों की संभाल का पौरुष नहीं किया था, इसलिए भविष्य की वह बात न आ सकी। एक पुरुष रोज अपनी वर्तमान संभाल करे, ज्ञानार्जन में, स्वाध्याय में, सत्संग में अधिकाधिक रहे। वह भविष्य की बात कुछ नहीं विचारता। वह तो सोचता है कि हमारा यह रोज का काम हो। जो रोज बात बीते उसमें से समय निकालने, उसमें से अपना उपयोग करना, विभाग करना, यह तो रोज का हमारा काम है। चाहें गरीब हों तो उसमें हमारा विभाग रहेगा। जैसी स्थिति आये उसके अनुसार विभाग चलेगा तो समझो कि वर्तमान समय के परिणामों को वह संभाल रहा है। उससे ही उसे ऐसा भविष्य प्राप्त हो जायेगा जो कि उसे अभीष्ट है। तो सब कुछ अपने वर्तमान परिणामों पर आधारित है। कोई पुरुष गुस्सा कर रहा है तो वह यदि सोचे कि मैं अभी गुस्सा-गुस्सा का ही सारा काम कर लूँ, पीछे सब संभाल लेंगे तो उसका यह विचार नहीं है। यदि वह वर्तमान गुस्सा को संभाल ले अर्थात् वहाँ क्षोभ न करे, विवेक जगाये, शान्ति रखे, दूसरों के प्रति आदरभाव रखे तो उसको भविष्य की अच्छी बात जल्दी मिल जायगी। तो आवश्यकता है अपने वर्तमान परिणामों को संभाले रहने की।

**अपने को एकाकी निरखने में वर्तमान परिणाम संभाल की संभवता—** वर्तमान संभाल की बात तब बनेगी जब अपने आपको अकेला मान लें। सब कुछ मेरा इस अकेले पर ही आधारित है। संसार में मैं अकेला हूँ। मोक्ष पाऊँगा तो अकेला, संसार में रुलूँगा तो अकेला, सर्व स्थितियों में मैं अकेला हूँ, यहाँ के इन बाह्य झमेलों में भी मैं अकेला हूँ, अन्तः झमेले में भी अकेला हूँ। यही नोकर्म है, शरीर कर्म भी यहीं है और यहीं मैं जीव पड़ा हूँ, पर सबकी परिणति उन-उन पदार्थों में अकेले-अकेले में हो रही है। जो निमित्तनैमित्तिक भाव चल रहे हैं, वहाँ भी हो क्या रहा है? जो परिणम रहा है, वह अकेला ही उस रूप परिणम रहा है। दो मिलकर वह एक परिणमन नहीं बना, अथवा अधिकरण से भिन्न पदार्थ में परिणमन नहीं बना। सर्वत्र प्रत्येक पदार्थ स्वयं ही एक स्वसहाय अपने आपमें उत्पादव्ययध्रौव्य से बने हुए रह रहे हैं। सत् की व्यवस्था ही यह है कि अपने में उत्पाद व्यय करते रहें। क्रियात्मक वस्तु की प्रकृति जिसको न समझकर लोगों ने तीन देवताओं की कल्पना की, इस ख्याल से कि यह संसार सिद्ध हो, बने, चले, रहे, इसका निर्णय तीन देवता मान करके किया है। कोई सृष्टि करने वाला है, कोई संहार करने वाला है, कोई रक्षा करने वाला है। मगर पदार्थ यदि है तो वह स्वयं सुरक्षित है, स्वयं सृष्टि संहार और ध्रुवता को लिए हुए है। है, इसी में ही उसका सुरक्षितपना है। कोई दूसरा संभाले सो बात नहीं। तो यों आत्मतत्त्व का भी निरीक्षण करना, अपने आपको अकेला समझना और इतना अकेला समझना कि शरीर, कर्म, विभाव आदिक समस्त परपदार्थों से

निराला यह मैं अतः एक चैतन्यस्वभावमात्र हूँ। जो बीत रहा है उसे भीतर की हिम्मत बनाकर ऊपर से निकाल दें। इतना पौरुष हो सकता है तो उस जीव का श्रेयोमार्ग बिल्कुल निकट है।

**सम्यक्त्व का आश्रयभूत व निमित्तभूत साधन—** सम्यक्त्व की साधना में बताया जा रहा है कि सम्यक्त्व के आश्रयभूत साधन तो जिनसूत्र और जिनसूत्र के ज्ञायक पुरुष हैं और निमित्त कारण दर्शनमोहनीय का उपशम, क्षय, क्षयोपशम आदिक है। देखिये बात एक यहाँ यह भी समझना कि सुनने वाले के चित्त में जब तक उपदेष्टा के प्रति यह भाव नहीं आ पाता कि यह वास्तविक ज्ञानी पुरुष है और यह वचन यथार्थ है तब तक वह तो सम्यक्त्व का साधन नहीं बन पाता और यह बात अनुभवगम्य ही है। श्रोता तो यह सोचता रहे कि ये तो सब केवल बातें कह रहे हैं, ज्ञान कुछ नहीं है, चित्त में कुछ नहीं, सिवाय ऊपरी बातें कह रहे हैं, यदि इस तरह का विकल्प श्रोता के चित्त में हो तो वह वचन क्या सम्यक्त्व का साधन बन सकेगा? वह ग्रहण ही कैसे कर सकेगा? इस कारण श्रोता की श्रद्धा में ज्ञानीपने को प्राप्त उपदेष्टा सम्यक्त्व का निमित्त हो पाता है।

**सम्यक्त्व के आविर्भाव के साधनों में उपदेश की प्रधानता—** यह पुरुष कैसा है? यह परख वचनों के जरिये हो जाता है। दूसरे का भाव क्या है? सम्यक्त्व है अथवा नहीं है। कर्मों का क्षयोपशम है या नहीं है। इन बातों को कौन परखेगा? वचनों द्वारा ही आशय समझा जाता है और वैसे वर्णन की रफ्तार से भी उन वचनों की खास पद्धति से भी भीतरी भाव परखा जाता है। जो वचन हितप्रेरक है, कल्याण से सम्बंधित है, वह वचन सहायक है श्रेय का और ऐसी परख भव्य जीव को ही हो जाती है। तब प्रायः यह बात रही कि जो पुरुष स्वयं ज्ञानी है, सम्यग्दृष्टि है उसके वचनों में ओज होता है और स्पष्टता रहती है, जिसके कारण वह वचन सम्यक्त्व की आविर्भूति में सहायक है। लेकिन यहाँ उस आत्मा को प्रधान न करना, क्योंकि इसमें प्रधान है वचन, उपदेश, क्योंकि श्रोता ने जो ग्रहण किया वह वचन और उपदेश ग्रहण किया कर्ण द्वारा। हाँ ऐसा सम्बन्ध है कि ऐसे वचन कोई ज्ञानी अनुभवी पुरुष के हो सकता है। फिर भी जहाँ 11 अंग 9 पूर्वी का ज्ञान हो जाता है, तो उस 9 पूर्व से पहिले आत्मप्रवाद, ज्ञानप्रवाद आदिक पूर्ण आ जाते हैं, उनका सम्पूर्णतया ज्ञान होता है और कितने ही तपस्वी साधु अपने कल्याणभाव में उस मार्ग में विहार करते हैं, जान जानकर उनका केवल एक वीतराग मार्ग में ही गमन है, इतना सब कुछ होने पर भी किसी के कोई सूक्ष्म मिथ्यात्व रहता है उसकी पकड़ भी कोई क्या बताये? वह भी न पहिचान पाये, ऐसा सूक्ष्म मिथ्यात्व अंश रहने पर भी वे इतने ऊँचे ज्ञाता पुरुष होते हैं अध्यात्मवाद के, ज्ञानप्रवाद के कि वहाँ एकदेश की बात नहीं है और कल्याणभाव भी उनका है तो उनका उपदेश भी ऐसा प्रेरक होता है और वे वचन भी सम्यक्त्व की उत्पत्ति के बाह्य साधन हो सकते हैं, तो यह बात एक एकान्त आग्रह के निरोध के लिए कह रहे हैं। बात तो प्रायः यह समझनी चाहिये कि अनुभवी पुरुष के वचन उस प्रकार के प्रेरक होते हैं।

**सम्यक्त्वाविर्भाव में किसी महान् आत्मा के नैकट्य का नियम व अनियम—** उपशम सम्यक्त्व, क्षायोपशमिक सम्यक्त्व और क्षायिक सम्यक्त्व इनके प्रसङ्ग में जब सम्यक्त्व की चर्चा आयी षट्खंडागम में, धवल ग्रन्थ में, और पूछा गया कि क्षायिक सम्यक्त्व किसके सन्निधान में होता है तो आचार्य महाराज ने स्वयं उत्तर दिया कि क्षायिक सम्यक्त्व केवली और श्रुतकेवली के निकट होता है। अपवादरूप में यह भी जानना चाहिये कि कोई समर्थ स्वयं यदि श्रुतकेवली है और है क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि तो उसको निकट की भी आवश्यकता नहीं है। वह स्वयं क्षायिक सम्यक्त्व कर सकता है। और जब पूछा गया कि उपशम सम्यक्त्व किसके निकट में होता है तो सूत्र में ही उत्तर दिया है कि इस विषय में कोई नियम नहीं, सर्वत्र उपशम सम्यक्त्व संभव है। सो यद्यपि उपशमसम्यक्त्व क्षयोपशमसम्यक्त्व सर्वत्र संभव है, फिर भी इतना निर्णय श्रोता के ज्ञान में होता ही होगा कि यह ज्ञानी पुरुष है, ये वस्तुस्वरूप के अनुकूल वचन हैं और अपने आपके श्रेय के लिए जिस प्रकार संघटित होता है उस प्रकार संघटित करें तो वे वचन बाह्यसाधन हैं सम्यक्त्व उत्पत्ति के। क्षायिक सम्यक्त्व होता है क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के। मिथ्यात्व के अनन्तर क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता, उपशम सम्यक्त्व के बाद भी क्षायिक सम्यक्त्व नहीं होता, किन्तु क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि जीव के क्षायिक सम्यक्त्व होता है, तो वहाँ भी उसके ज्ञान में वह बात है कि यह केवली है, यह श्रुतकेवली है, वहाँ संदेह नहीं होता और ये प्रभु है ऐसा भाव चित्त में आने से विचार प्रभाव और बढ़ जाते हैं। तो ये विचार प्रभाव उसके क्षायिक सम्यक्त्व के साधक बनते हैं।

**जिनसूत्र की सम्यक्त्वसाधनता—** यहाँ तक यह बताया गया कि हमारे सम्यक्त्व के साधन हैं ये जिनसूत्र। वस्तु का जो स्वतंत्रस्वरूप है, निरपेक्षस्वरूप है, जिसके परिचय से मोह दूर होता है वह परिचय, वह ज्ञान हमारे श्रेय का साधन है। यह है आत्मा का भोजन जिसके बिना गुजारा न चलेगा। लेकिन शरीर के भोजन पर तो व्यर्थ ही फिदा हो रहे हैं लोग। कई बार खाने को मिले, बढ़िया खाने को मिले। अरे शरीर के भोजन तो कितने ही किये गए उससे अब तक कोई लाभ न हुआ। स्वादिष्ट भोजन किया तो क्या लाभ पाया? और बल्कि उससे शरीर की परम्परा ही बढ़ी। शरीर में राग है, पर्याय बुद्धि है, जिस बल पर रसस्वादन में आसक्त हो रहे हैं तो उसका फल शरीर का मिलना ही है और सारे दुःखों का मूल है शरीर का सम्बन्ध। जब कभी मानसिक दुःख भी हो रहा है तो उसका भी कारण शरीर का सम्बन्ध है। मानसिक दुःखों में क्या होता है? यहाँ लोग यह सोचा करते कि हमारी इज्जत कुछ न रही, हमारा अपमान हो गया, हमको कोई पूछता नहीं, अथवा किसी भी प्रकार की बात चित्त में आती है तो तभी तो आती है जब यह मान रखा है कि यह शरीर ही मैं हूँ, और मुझको लोगों ने यों कह डाला। तो यों शरीर में जब उसने सम्बन्ध माना, पर्यायबुद्धि की, सभी तो उसे सम्मान अपमान आदिक के क्लेश बने। जितने भी दुःख हैं हम आपको उन सबका कारण का सम्बन्ध हैं। और शरीर है दुःख का कारण। और शरीर से ही नेह लगाया तो इसका अर्थ है दुःख को

बढ़ावा देना। वह पुरुष पवित्र है जिसके अनुभव में यह बात जगी है कि यह मैं आत्मा देह से निराला केवल चैतन्यप्रकाशमात्र हूँ।

**निजानुभूति जगने की शक्यता—** भैया ! मैं चैतन्यप्रकाशमात्र हूँ- यह अनुभव जग सकता है उसकी ओर उपयोग कर, उसमें लगे, सोचें अपने आपको। दुःख बढ़ता है तो अपने आपको ही तो कुछ सोचा गया तभी तो बढ़ता है। सुख मान लिया तो अपने आपको कुछ सोचा है तभी तो सुख हुआ। तो आनन्द भी जगेगा, ज्ञान भी जगेगा अपने आपको कुछ सोचेंगे तब। विधियाँ सबकी अलग-अलग हैं। पर मैं मैं हूँ छोड़ दीजिए सब कुछ दृष्टि से। यहाँ तक कि इस देह तक का भी मान छोड़े। अपने भीतर उपयोग लगाकर निरखने चलेंगे तो अमूर्त सूक्ष्म केवल एक ज्ञान प्रतिभासमात्र कुछ उपयोग में आयगा और तब पहिचान बनेगी कि यह मैं तो स्वयं सत्ता वाला हूँ। बाकी तो यह शरीर कारागृह है, बंधन है, मैं तो इससे निराला हूँ। निरालेपन की मोटी बात यह है कि मरण होने पर सभी लोग समझते हैं, कहते हैं कि यह मर गया और जो जीव था वह निकल गया। अरे जो था निकल गया, इतना ही क्यों, वह शरीर में रहकर भी शरीर से निकला हुआ याने अलग है, निजस्वरूप में है, बन्धन में बंधा है, पर स्वरूपदृष्टि करें तो वह पृथक् है। यहाँ तक जिसकी गति हुई है वह पुरुष पवित्र है। वह अब सबका है, क्यों सबका है कि सब उसके हैं। अब उसे यह पर्दा नहीं रहा कि ये जीव तो मेरे हैं, ये पराये हैं। नीति में कहते हैं- वसुधैव कुटुम्बकम्। तो प्रयोग में ज्ञानी पुरुष के ही यह बात सम्भव है, क्योंकि उसने सबका स्वरूप सत्य यथार्थ स्वतंत्र समझा, जिससे यह पर्दा टूट गया कि ये मेरे हैं, ये पराये हैं।

**मोहियों की “मेरे हैं” की बात का संक्षिप्त चित्रण—** अब जरा मेरे हैं की भी बात देख लीजिए। जीवन भर कमाया, बच्चे हुए, बड़े हुए, लड़ने लगे, न्यारे किये, दसों प्रकार के झंझट हुए, बीच-बीच में अनेक प्रकार की आपत्तियाँ सही, सारी बातें बेटों के अनुकूल कर डालें, यह बात सम्भव भी नहीं, तब उनमें दोष देने लगे और कभी तो बेटे आदि बड़ी घृणा की दृष्टि से देखने लगते हैं। बूढ़े हो गए, अब विवेक आया, क्या किया इसने जिन्दगी भर? कुछ फायदा मिला हो तो बताओ। कदाचित् कोई बेटा अपने पिता की जिन्दगीभर सेवा करे तो आत्मा के अस्तित्व भर के लिए ठेका तो नहीं ले सकता। आगे तो वह मरेगा और अब भी ठेका नहीं लिए हुए है। उसके ही पुण्य का उदय है कि ऐसे समागम मिले जो थोड़े दिन के लिए सुख सुविधायें मिल गईं। कोई किसी का यहाँ शरण नहीं, रक्षक नहीं। ज्ञानी पुरुष ने आत्मा का सत्यस्वरूप समझा, पदार्थों का यथार्थस्वरूप जाना, आत्मा का भाव उसे हुआ, पवित्रता उसमें जगी उसके लिए अब सब पर हैं, पराये है या सब जीवमात्र उसके हैं।

**वीतरागता का अद्भुत आकर्षण**— नगर में कोई बड़ा सेठ हो या राजा हो, या कोई ऊँचा मिनिस्टर हो तो उसके पास कितने लोग आयेंगे और यदि कोई परमात्मा हुआ हो और उसका विहार हो रहा हो, समवशरण हो, उपदेश हो तो उसके पास कितने पुरुष आयेंगे और कैसे जीव आयेंगे? यहाँ मिनिस्टरों के पास तो स्वार्थीजन आयेंगे, जिनको कि धन वैभव आदिक की चाह है। जो कि मायाचारी हैं, जो खुदगर्जी लिए हैं, ऐसे कई लोग आयेंगे? और वीतराग सर्वज्ञदेव का सत्संग प्राप्त हो तो वहाँ मनुष्य भी आयेंगे, देव भी आयेंगे, तिर्यञ्च भी आयेंगे। भला बतलावो इतना आकर्षण किस बात का हुआ? चीज तो कुछ नहीं दी। भला मिनिस्टर लोगों के पास तो परमिट वगैरह की चीजें मिल सकती है पर वीतराग सर्वज्ञदेव से क्या मिले? वहाँ तो सत्यता की चीजें हैं, वहाँ तो वीतरागता है। रागद्वेष नहीं रहे, उस पर सबका आकर्षण है। यहीं देख लो— कोई लड़का भला है, किसी झगड़ा झंझट में नहीं पड़ता तो पड़ोस के लोग उसके व्यवहार से बहुत आकर्षित होते हैं, जहाँ कि कारणवश ही कुछ सरलता है तो आकर्षण लोगों का होता है वीतरागता पर। यहाँ जिसने कुछ चाहा उसको कुछ नहीं मिलता, और जिसने कुछ न चाहा उसको सब कुछ मिलता है। एक सच्चाई से इस बात पर कोई आ तो जाय। कुछ न चाहे अंतरंग में, श्रद्धा में ऐसा पुरुष नहीं हो सकता जिसे यह पूर्णतया भान हो चुका है कि प्रत्येक पदार्थ अपने चतुष्टय से है, स्वतंत्र है, किसी का किसी में द्रव्यगुण पर्याय का असर कुछ भी नहीं जाता। एक का दूसरे से लेनदेन नहीं है। यहाँ जो कुछ भी हो रहा है विभावपरिणमन, उसकी भी यही व्यवस्था है कि योग्य उपादान जो जिस विभाव के योग्य है वह अनुकूल निमित्त पाकर स्वयं उपादान अपनी परिणति से अपना प्रभाव प्रकट कर लेता है। यों वस्तुस्वातंत्र्य का जिसे भान है वह जीव धन्य है, पवित्र है, संसारसागर से यथाशीघ्र पार हो जाने वाला है।

**मोह की महती व विचित्र भूल**— सम्यक्त्व ही एक सर्व कुछ श्रेय, मिथ्यात्व ही सारी विडम्बना है। भूल और भूल में सच्चाई मानने की भूल- इन दो भूलों में सबसे बड़ी भूल कौन? भूल सबसे बड़ी भूल नहीं, किन्तु भूल में सच्चाई मानने की बात बड़ी भूल कहलाती है। मोह और राग में यही अन्तर है। राग भी भूल है पर मोह है भूल को सच मानना, सो यह है बड़ी भूल। कुमार्ग को सच मान लेने पर उसकी निवृत्ति होना कठिन है और जो कुमार्ग पर चल रहा है, सच नहीं मान रहा है, मान रहा है, थोड़ा ध्यान में आया, कुमार्ग है, दसों जगह सोचेगा तो निवृत्ति हो जायेगी। तो मोह है राग का राग, क्योंकि वहाँ रागपर्याय को अपना सर्वस्व माना है, उसमें राग बन रहा है, अंधेर है कुछ पता नहीं। और ज्ञानी पुरुष के राग बनता है, उसे समझ है, जानता है, यह राग है, यह हितरूप नहीं है, इससे वह हटना चाहता है, और यथाशक्ति इससे हटने का पुरुषार्थ करता है। लोक में जो भी समागम मिला है यह अपने लिए कोई ग्राह्य नहीं है, लगाव के योग्य नहीं है। कहाँ लगाव करना?

**स्वप्नभानवत् लोकसमागम की मिथ्यारूपता—** लोकसमागम की प्रथम तो बात यह है कि सब स्वप्न है मोह का। स्वप्न में स्वप्न की देखी हुई बात क्या गलत लगती है? सोचे हुए में स्वप्न आ गया कि नदी में तैर रहे, डूब रहे, मगर निकल आया, यह बात क्या झूठ मालूम होती है? उसे सच लगती है, तभी तो वह दुःखी होता है। स्वप्न में दृश्य आया कि मैं राजा बन गया हूँ, सभी लोग मुझे नमस्कार कर रहे हैं, बहुत कुछ भेंट चढ़ा रहे हैं, मेरे पास बहुत बड़ा वैभव है आदि? ये सब बातें बिल्कुल सत्य विदित होती हैं। तो जैसे स्वप्न में देखी हुई बात सत्य मालूम होती है इसी प्रकार मोह में जो कुछ मान लिया जा रहा है वह भी सत्य प्रतीत होता है। यह धन वैभव मेरा है, स्त्री पुत्रादिक मेरे हैं आदि बातें इस मोह के कारण ही तो मालूम हो रही हैं, लेकिन स्वप्न की बात जैसे तभी झूठ मालूम होती है जब कि नींद खुल जाय, ऐसे ही मोह की ये सभी बातें झूठ मालूम होती हैं जब कि मोहनिद्रा का भङ्ग हो जाय। मोहनिद्रा के भङ्ग होने पर यह मालूम होगा, ओह ! यह सब जो मालूम हो रहा था, वह सब झूठ था। लोग प्रतिक्रमण में यह पढ़ते हैं कि मिथ्या में दुष्कृत, अर्थात् मेरे पाप मिथ्या हो तो ठीक है, बहुत बढ़िया बात है। इतना कहने भर से ही यदि दुष्कृत मिथ्या हो गए तब तो अच्छी ही बात है, लेकिन ऐसा होता कहाँ है? जब ज्ञानबल प्राप्त हो, उस ज्ञानबल को अपने उपयोग में ले तब कहीं वे दुष्कृत मिथ्या हो सकते हैं। तो कोई बात मिथ्या तब लगे जब उसके सामने कोई सच बात आये। बिना सच बात के सामने आये कोई बात मिथ्या नहीं प्रतीत हो सकती है। जब यह बात ज्ञान में आये कि मैं तो सबसे निराला शुद्ध चैतन्यमात्र हूँ तो फिर वे मोहनींद में देखी हुई बातें मिथ्या प्रतीत होने लगती हैं। तो आवश्यक है कि हम अपने आत्मस्वरूप को सही समझें, जिससे हमारी पवित्रता बने और हम संसारसंकटों से दूर हों।

**देशनालब्धि में उपादानयोग्यता व मुख्य बाह्य साधन का समावेश—** देशनालब्धि का लक्षण आगम में बताया है कि छहों द्रव्य और 9 पदार्थों के उपदेश का नाम देशना है और उस देशना से परिणत याने उपदेशक आचार्य आदिक की उपलब्धि को और जो उपदेश में आया है उसके ग्रहण, विचार, चिन्तन व अवधारण करने की शक्ति के समागम को देशनालब्धि कहते हैं। देशनालब्धि में कितनी ही बातें आयी हुई हैं। एक तो यह कि उपदेष्टा आचार्य आदिक की प्राप्ति होना, दूसरी यह कि अभीष्ट अर्थ का ग्रहण, धारण, चिन्तन आदिक की शक्ति आ जाना, उसका नाम देशनालब्धि है। देशनालब्धि में मुख्यता यथार्थ वचन और उपदेश पाने वाले की योग्यता पर ध्यान देना है। यदि उपदेश पाने वाले के योग्यता नहीं है तो देशना काम नहीं कर सकती, इसीलिए देशना बाह्य साधन है। जिनसूत्र बाह्य साधन हैं। अन्य अन्य भी जितने कारण बताये गए हैं वेदना का अनुभव, जातिस्मरण, ऋद्धिदर्शन आदिक वे सब बाह्य साधन हैं और बाह्य साधन आश्रयभूत साधन का चिन्ह है कि यह जीव उपयोग में उसे लेता है तो वे निमित्त हो जाते हैं, उपयोग में न आने पर निमित्त नहीं हो पाते। यह आश्रयभूत की बात है। जैसे क्रोध, राग आदिक कषायें उत्पन्न होने के लिए ये बाह्य पदार्थ

आश्रयभूत हैं, क्योंकि यह क्रोध करने वाला बाह्य पदार्थों को उपयोग में लेता है तो वे कारण होते हैं, पर निमित्त के सम्बन्ध में यह बात नहीं कि उसे उपयोग में लें तब कारण हो। कर्म का किसे पता? और जो कर्मों को जानने वाले लोग भी हैं वे आगम में लिखा है इसलिए जानते हैं। कोई आँखों दिखने वाले पदार्थों की तरह ये कर्म परिचय में तो नहीं आ रहे हैं। तो कषाय करने वाला जीव कर्मों को उपयोग में नहीं लेता। किन्तु वहाँ निमित्तनैमित्तिक बात है कि कर्म के उदय सन्निधान में जीव कषायरूप परिणत हो जाता है। तो ये सब आश्रयभूत साधन है। उपदेश होना, उपदेष्टा का मिलना और ग्रहण धारण करने की शक्ति आ जाना यह उपादान से सम्बन्ध रखता है। तो देशनालब्धि में दोनों का समावेश है— उपादान कारण और निमित्त कारण। दोनों की बात देशनालब्धि में है। जो ग्रहण धारण का अंश है वह तो उपादान से सम्बन्धित है और उपदेष्टा और जिनसूत्र के उपदेश का जो समागम है वह निमित्त अथवा बाह्य समागम से सम्बन्धित है, यथार्थ उपदेशक का ही महत्त्व है, और सुनने वाले लोग यदि पक्षपात से रहित हैं तो उनमें ऐसी शक्ति है कि वे यथार्थ और अयथार्थ की पहिचान कर सकते हैं।

**आग्रह पक्ष की सन्मार्ग में बाधकता—** और अयथार्थ को न समझने का सबसे अधिक बाधक कारण है पक्ष। कोई मन में आग्रह हो गया वही कारण बनता है कि यथार्थ और अयथार्थ के स्वरूप के निर्णय के लिए हम नहीं चल पाते। समयसार में जब यह चर्चा चली कि यह जीव अपने आपको आग्रह से नारकी, तिर्यञ्च, मनुष्य, देव आदि बनाये हुए हैं, मैं नारकी हूँ, तिर्यञ्च हूँ आदि इन शब्दों में न कहें तो जो भी पर्याय है उस पर्याय के रूप से जो अपने में मेल की बात लगाता है बस यह अध्यवसान तो उन्हें नारकी, मनुष्य, पशु आदिक बनाये हुए हैं। तो चर्चा चलते-चलते पूछा, जब प्रसंग आया कि यह अपने आपको धर्मास्तिकाय बनाये है, अधर्मास्तिकाय भी बनाये है, उनमें भी पर्यायबुद्धि है। अब बतलाओ धर्मद्रव्य, अधर्मद्रव्य, अमूर्त सूक्ष्मपदार्थ, उसमें पर्यायबुद्धि कैसे? तो उत्तर दिया गया है कि धर्मास्तिकाय के सम्बन्ध में जो जानकारी हुई है उस विकल्प में आग्रह बनाये हुए है कि जो मैं जानता हूँ यही सत्य है। तभी तो जब कभी धर्मचर्चा के समय में बातचीत होती है तो वहाँ झगड़े का रूप बन जाता है या क्रोध आ जाता है, तो वह किसका परिणाम है? अपनी बात में जो आग्रह है उसका परिणाम है। तो बात का आग्रह है, आशय का आग्रह है इसे भी मोह कहा है। धर्मास्तिकाय आदिक पदार्थों के सम्बन्ध में जो ज्ञान होता है बस उसी को कहा है कि इसने अपने को धर्मास्तिकायरूप बना डाला।

**स्वतत्त्व का निर्णय कर पर से परे होकर सहजतत्त्व में आने की उपयोग को सलाह—** कितनी बातों से परे होकर हमें अन्तःस्वभाव में आना है, इसका अब अंदाज कर लीजिए। बाह्य वैभवों में न अटके, देह में न अटके, विचार में न अटके और इन सबसे परे होकर अपने आप सहज जो अपने में प्रकाश बना उस प्रकाश का अनुभव पायें तो इसे कल्याण मिलेगा। ये सब बातें पौरुषसाध्य हैं। हम आप इसके लिए कुछ प्रयास करें,



ज्ञानार्जन का, ध्यान का। जैसे कुछ जीव भोजन करते हैं और भोजन करने के बाद उससे अधिक समय उसके रोंथने में लगाते हैं- जैसे गाय, बैल, भैंस आदिक पशु। उन्होंने भोजन किया और उसे रोंथा तो उनका भोजन पच जाता है, यों ही हम ज्ञान करें और उसका फिर ध्यान करें तो हमारे में वह एक मेल बन जायगा, परिचय बन जायगा, तो आवश्यकता है जानने की और उसके ध्यान की, पर ध्यान होने के लिए यदि तैयारी करें तो उसके ऊपर का वातावरण भी बदल जायगा। जहाँ एकान्त स्थान हो, जंगल हो, पहाड़ हों, पवित्र स्थान हो, सत्संग हो वहाँ ध्यान की प्रेरणा मिलती है, तो ऐसे कार्यों के लिए लालसा भी तो हो। ऐसा बनाव बनता हो तो वहाँ जैसे कहते हैं कि दिन दूना रात चौगुना बढ़ावा है तो भीतर के प्रकाश में इसी तरह बढ़ावा हो सकता है। जिस किसी भी प्रकार हो, इतनी निर्मल बने कि अपने उपयोग में वह उद्देश्य, वह लक्ष्य, वह स्वभाव जब चाहे आ जाय। यही एक बात करने भर को रह गई और तो जीव ने सुखशान्ति के नाम पर बहुत-सी बातें कर ली और करके भी यह रीता है। जैसे गृहस्थजन अन्त में बुढापे में अनुभव किया करते हैं कि सारी जिन्दगी में क्या किया, क्योंकि अब हाथ कुछ नहीं है ना। केवल जीर्ण शरीर रह गया और वह कल्पना वाला पदार्थ रह गया और तो कुछ इसके हाथ नहीं ना है। तो बुढापे में जैसे पछतावा होता है कि हमने अनेक खटपटें की, अनेक श्रम किए, पर मिला कुछ नहीं, रीता का ही रीता रहा, ऐसे ही समझिये कि अनादि काल से इस जीव ने अनेक समागम पाये, पर यह रीता का ही रीता रह गया। इसे अपने भीतर का प्रभाव मिलता तो भरा रहता, पर अन्तःप्रभाव के लाभ बिना बाह्य वैभवों में तो यह रीता का ही रीता रहा।

**साधनों का आश्रय लेने पर भी साधक की अनाश्रित अन्तर्दृष्टि—** देशनालब्धि का महत्त्व है, पर देशनालब्धि से भी बढ़कर प्रायोग्यलब्धि है। वहाँ 34 ऐसे अवसर आया करते हैं कि ऐसी प्रकृतियों का भी बंधापसरण होता है कि जिनमें से बंधापसृत कितनी ही प्रकृतियाँ चौथे 5 वें गुणस्थान में बंधने लगती हैं और भी आगे के गुणस्थानों में वे प्रकृतियाँ बंधने लगती हैं और सम्यक्त्व उत्पन्न होने से पहिले प्रायोग्यलब्धि में वे प्रकृतियाँ नहीं बंध रहीं। कितना महान् भाव है वह? कितना कर्ममल को उतार रहा है वह? इस ओर से यदि देखा जाय तो सम्यक्त्व लाभ के समय जितना कर्ममल हट गया है उसके आगे जो रहा सहा कर्ममल है वह बहुत कम है। तो जीव के प्रायोग्यलब्धि तक हो जाती है, फिर भी सम्यक्त्व हो अथवा न हो। भव्य के भी प्रायोग्यलब्धि हो सकती है और अभव्य के भी प्रायोग्यलब्धि हो सकती है। अब आप समझिये कि निमित्त पर इतनी अधिक दृष्टि देना इससे क्या लाभ? उपादान की योग्यता बिना बात कुछ नहीं बन सकती। निमित्तों की जानकारी कर लें, पर दृष्टि न बनावें। निर्णय में समझ लें कि यह निमित्त है, यह साधन है। अभी आप किसी वाक्य का अर्थ लगाने बैठें तो साधन तो है वह वाक्य, उसका अक्षर तो साधन है, निमित्त है, मगर आप जोर कहाँ लगा रहे सो बताओ। अपने भीतर समझ में जोर लगा रहे या उन अक्षरों की टेढ़-मेढ़ और स्याही पर? आप तो अपनी समझ में जोर लगा रहे। निमित्त होकर भी आप अपने भीतर में जोर लगा रहे हैं। तो यों ही

समझिये कि हमारे श्रेय के जितने साधन है उन साधनों में चलना चाहिए, पर साधन में चलते हुए दृष्टि साधन पर न होकर अन्तः स्वभाव पर होनी चाहिए। निर्णय बिना साधन न बन सकेगी। और निर्णय में यह सब आवश्यक है पर साधना के ढंग की तैयारी होनी चाहिए। जैसे कोई सुभट युद्धकला सीखता है तो युद्धकला सीखने के समय की बातें देखें और तब वह अपने साधना क्षेत्र में उतरता याने युद्ध करने को आता तब उसकी दृष्टि देख लो। ऐसी ही निर्णय और साधना की बात है।

**विभावकार्यविधिविधान पद्धति—** भैया ! जो बाह्यसाधन हैं वे साधन हैं, जो निमित्त हैं वे निमित्त हैं और जो उपादान है वह उपादान है, इतना होने पर भी प्रतिबंधक का अभाव और चाहिये। होता ही कार्य इसी विधि से है कि प्रतिबंधक का अभाव हो, निमित्त का सद्भाव हो और उपादान की योग्यता हो। देख लो निमित्त सन्निधान व उपादान से भी केवल बात नहीं बनी। प्रतिबंधक का अभाव भी जरूरी है। जैसे अग्नि है और जल भी वहीं रखा है गरम होने के लिए, पर अग्नि का प्रतिबंधक कोई जड़ी-बूटी या मणि वगैरह रखी हो तो जल गर्म नहीं होता। दशहरा आदिक के मेलों में देखा होगा कि तमाशा दिखाने वाले लोग अग्नि से तपाई हुई खूब तेज लाल सांकलों को अपने हाथों में पकड़ लेते हैं, सरूटते हैं, पर उनका हाथ नहीं जलता। तो बात वहाँ क्या है? बात वहाँ यही है कि अग्नि का प्रतिबंधक जो जड़ी-बूटी है उसे वे अपने हाथों में लगाये है। तो उपादान भी है, निमित्त भी है फिर भी काम नहीं हो रहा क्योंकि वहाँ प्रतिबंधक मौजूद है। तो तीन बातें बतायी, प्रतिबंधक का अभाव, निमित्त का सन्निधान और उपादान की योग्यता।

**साधक की अन्तर्दृष्टि—** जब आप निर्णय करके चलते हैं कि हमें श्रद्धान, ज्ञान, आचरण में आना है, निर्विकल्प अनुभूति करना है उस निर्विकल्प अनुभूति के समय आपको देखना क्या चाहिये? केवल एक अन्तःस्वभाव। पूजक यही तो कहता है- अर्हन् पुराण पुरुषोत्तम पावनानि वस्तूनि नूनमखिलान्यमेक एव। अस्मिञ्चलद्विमलकेवलबोधवन्हौ, पुण्यं समग्रमहमेकमना जुहोमि। हे अरहंत, हे पुराण, हे पुरुषोत्तम ! यहाँ पावन चीजें बहुत रखी है- थाल सजा है, द्रव्य सजे हैं, धोती दुपट्टा वगैरा भी साफ है, आदि, यों अनेक पवित्र चीजें यहाँ रखी हैं, मगर हे नाथ ! हमें तो केवल एक ही चीज यहाँ दिखती है। और कुछ तो दिखता ही नहीं है। जिसको जिसकी लगन होगी उसे सर्वत्र वही दिखेगा। तो वहाँ उस भक्त ने क्या देखा? जाज्वल्यमान, प्रकाशमान केवल निर्मल ज्ञान यही हमें (उस भक्त को) दिख रहा है। पास में रखी हुई समस्त पवित्र चीजें नहीं दिख रही हैं। क्या ये सभी चीजें सिर्फ यहाँ से वहाँ तक उठाकर रखने के लिए हैं? तो उस भक्त का क्या लक्ष्य है? उसका लक्ष्य है निर्विकल्प ज्ञान की अनुभूति करना। उस निर्विकल्प ज्ञान की अनुभूति करने वाले को यह सूझा कि मैं ऐसे कार्य में लगूँ जिससे इस अनुभूति के बाधक कारण हटें और उसका दर्शन मिले।

इस कारण हे नाथ ! मैं तो इस निर्मल, जाज्वल्यमान केवल ज्ञानरूप अग्नि में इस समस्त पुण्य को स्वाहा करता हूँ। इसका अर्थ क्या है कि इसके लिए मैं सब कुछ न्यौछावर करता हूँ। किसी से भी मैं अब लगाव नहीं रखता, इतनी तैयारी किए हुए है वह पूजक। और मानो भगवान के पीठ पीछे बैठा हुआ कोई पूछ बैठे कि तुम तो अच्छा भगवान को फुसलाने आ गए। केवल साढ़े दस आने के चावल अपने पास रखे हो और डींग इतनी मार रहे हो कि मैं अपने समस्त पुण्य को स्वाहा करता हूँ। तो उसका भाव उत्तर देता है कि यह तो सामने उपलक्षण हैं, उसके भाव को निरखिये, सारा पुण्य, जो भी समग्र धनादि वैभव है उस सबको मैं स्वाहा करता हूँ, क्योंकि पूजक ने भाव लगाया है उस केवल ज्ञानस्वरूप में। वह पूजक उस समय लाखों करोड़ों का वैभव तो नहीं चाह रहा है। वह तो उस समय सूना हो रहा है, तिस पर भी कोई कहे कि वाह ये जड़ वैभव जो कि प्रकट पराये हैं, बाह्यक्षेत्र में हैं, उनको स्वाहा करके कितनी बड़ी तुम डींग मार रहे हो। तो उसका भाव उत्तर देता है कि जिस पुण्यकर्म के उदय से यह सब कुछ मुझे मिला हुआ है उस पुण्यकर्म को भी मैं स्वाहा करता हूँ। इतने पर भी कोई बोला कि पुण्यकर्म भी तो जड़ हैं, भिन्न हैं, उनको स्वाहा करने की क्या डींग मारते हो? तो भाव उत्तर देता है कि हे नाथ ! जिस भाव के कारण यह पुण्यकर्म बंधा है उस पुण्य भावकर्म को भी मैं स्वाहा करता हूँ। क्योंकि इसकी दृष्टि है उस समय निर्मल केवल जाज्वल्यमान ज्ञान की ओर। उसे केवल वही रुच रहा है। उसमें विकारस्वरूप नहीं है। आप देखो खेल कि शुभभावों को स्वाहा कर रहा और शुभभावों में कर रहा। तो साधन है, साधन में चल रहा, पर दृष्टि साधन में नहीं है, इतना ही तो मर्म है।

**देशना से कल्याणलाभ—** अब अपने अन्तःप्रकाश के मूल बाह्यसाधन का उपकार सोचिये— देशना का बड़ा महत्त्व है। यदि सन्मति भगवान् की परम्परा से यह आज न होता कुछ आगम, जिसके आश्रय से हम आपका यह तत्त्वज्ञान बना, तो तत्त्वज्ञान बिना हम आपको कहीं कुछ प्रकाश भी मिलता क्या? इस जगत् में अकेले ही हम आप आये हैं, यहाँ से मरण करके अन्य किसी भव में जाने के दिन भी निकट हैं, कैसा अच्छा हम आपको मन मिला हुआ है कि जिस मन के द्वारा हम अपना आत्मलाभ प्राप्त कर सकते हैं, ज्ञानलाभ प्राप्त कर सकते हैं और संसार के संकट सदा के लिए मेट सकते हैं। ऐसा श्रेष्ठ नरभव पाकर भी यदि अपने कल्याण का काम न कर सके तो समझो कि जैसे अनन्त भव व्यतीत हो गए वैसे ही यह नरभव भी व्यतीत हो गया, लाभ कुछ न उठा पाया। थोड़े समय के लिए अगर गम्भीरता, धीरता, उदारता, निर्मोहता आदिक गुणों को अपना लें, विकार भावों को कुछ समय के लिए तिलाञ्जलि दे दें तो समझो कि हमने कुछ लाभ पाया। अपने आपको यहाँ बहुत संभालने की जरूरत है। यह मनुष्यभव हम आपने पाया है तो यह एक ऐसी स्थिति है कि यहाँ से यदि हम उठना चाहें तो सबसे अधिक उठ सकते हैं और यदि गिरना चाहें तो सबसे अधिक गिर सकते हैं। पशु, पक्षी, कीड़ा, मकौड़ा आदिक में भी यह बात नहीं है कि वे हम आपसे

अधिक गिर सकें। देखिये— मनुष्यों में देशचरित्र होता है ना? और पशुओं में भी देशचरित्र होता है। तो मान लो मनुष्यों का देशचरित्र 10 डिग्री से लेकर हजार डिग्री तक का है याने जघन्य 10 डिग्री और उत्कृष्ट एक हजार डिग्री तो पशुओं का देशचरित्र होता है जघन्य 100 डिग्री से लेकर उत्कृष्ट तीन चार सौ डिग्री तक। तो मनुष्यों से हल्का (जघन्य) चरित्र पशुओं में नहीं होता। हल्का से हल्का देशचरित्र यदि पशुओं में होगा तो मनुष्य का जो जघन्य देशचरित्र है उससे चढ़ा बढ़ा होगा और मनुष्यों के बराबर उत्कृष्ट भी देशचरित्र पशुओं में नहीं होता। (यहाँ मनुष्यों के पतन व उत्थान के स्पीड बताने के लिये उदाहरण बता रहे हैं), सो मनुष्य अगर अपना पतन करना चाहें तो अधिक से अधिक (सब जीवों से अधिक) अपना पतन कर सकते हैं, और अगर अपना उत्थान करना चाहें तो ये मनुष्य सब जीवों से अधिक अपना उत्थान कर सकते हैं। तो अपना यह नरभव चेतने का है। सत्संग हो, ज्ञान हो, ध्यान हो, विवेक हो, इन सब बातों से अपने आपके जीवन को सफल करने का एक यही मौका है।

**निमित्त और उपादान का विवरण—** इस प्रसंग में यह बताया जा रहा है कि सम्यक्त्व की उत्पत्ति के आश्रयभूत साधन तो जिनसूत्र, उपदेश, जिनवचन और उपदेष्टा पुरुष हैं और निमित्तभूत साधन दर्शन मोह का उपशम, क्षय, क्षयोपशम है और उपादान कारण वह स्वयं मुमुक्षु है। जिसने जिनसूत्र का आश्रय किया है और जो अपने आपमें उस तत्त्व का चिन्तन आदिक कर रहा है। निमित्त और उपादान के सम्बन्ध में कुछ थोड़ा विवेचन स्पष्ट होना चाहिये, अन्तर में इसके लिए कुछ प्रयोग और दृष्टान्त दे रहे हैं। निमित्त दो प्रकार से माने जाते हैं- एक आश्रयभूत और दूसरा निमित्तभूत। दोनों ही प्रकार के निमित्तों का उपादान में अत्यन्त अभाव है। किसी निमित्त का द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उपादान में नहीं पहुँचता, किन्तु आश्रयभूत साधन का तो इस जीव ने उपयोग में ग्रहण किया है, इस सम्बन्ध के कारण वह आश्रयभूत साधन कहलाता है और निमित्तभूत साधन का नैमित्तिक भाव के साथ अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध है, इस कारण वह निमित्तभूत साधन कहलाता है। उपादान कारण के भी दो प्रकार हैं- एक ओघ और दूसरा समुचित, जिसे कहो- एक सामान्य और दूसरा विशेष। ओघ उपादान कारण जातिमात्र से वस्तु कहा जाता है और समुचित उपादान कारण कहलाता है सद्भाव वाली पर्याय में आई हुई वस्तु अर्थात् जिस पर्याय के बाद जो पर्याय उत्पन्न होता है उस पर्याय के लिए पूर्व पर्याय संयुक्त द्रव्य उपादान कारण कहलाता है, उसका नाम समुचित उपादान कारण। दृष्टान्तों में जैसे उदाहरण लो। मेघा पर्वत की जड़ के नीचे की मिट्टी, बतलावो घट का उपादान कारण है या नहीं? मानना होगा कि घट का उपादान कारण है, किन्तु है वह ओघ उपादान कारण। उस मिट्टी से घड़ा बना नहीं अभी तक और बनने का कोई ख्याल भी नहीं, लेकिन जो मिट्टी सजी सजाकर चाक पर रखी हुई है, सर्वसाधन सम्मुख है, व्यापार परिणत कुम्हार भी वहाँ है, ऐसी स्थिति की वह मिट्टी जिसकी अनन्तर घड़ा पर्याय हो रही है वह है समुचित उपादान कारण।

**कारणसमयसार—** इन दृष्टियों से कुछ अपना भी खुलासा करें। कारण समयसार किसे कहते हैं? कारण समयसार की व्याख्या ओघ उपादान कारण की अपेक्षा तो अनादि अनन्त शुद्ध अहेतुक चैतन्यमात्र आत्मतत्त्व है, वह है कारण समयसार। और समुचित उपादानकारण की अपेक्षा से 12 वें क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती जो सिद्ध हैं, आत्मा है वह है कारणसमयसार याने कार्य समयसार अर्थात् परमात्मा होने के लिए समुचित उपादानकारण कौन है? तो वह है क्षीणमोह गुणस्थानवर्ती आत्मा। इन दो पद्धतियों से कारणसमयसार कहा गया है। यहाँ इतनी बात और आवश्यक समझ लेना चाहिए कि जो ओघ उपादानकारण है अनादि अनन्त अहेतुक चैतन्यस्वभावमात्र तत्त्व उसकी दृष्टि होने से पर्याय में शुद्ध विकास होता है, अतः आलम्बन का विषयभूत होने से भी वह कारणसमयसार है, बात यहाँ यह समझना है अपने हित के लिए कि हमने बाह्य में अनेक साधनों का उपयोग किया, जगह-जगह दृष्टि दी लेकिन इस अन्तःप्रकाशमान इस कारणसमयसार सहज परमात्मतत्त्व की दृष्टि नहीं की, जो अन्तरंग में प्रकाशमान है लेकिन कषायचक्र के साथ एकमेक कर दिया जाने के कारण तिरोभूत हो गया, उस पर दृष्टि नहीं है। अब कर्तव्य यह है कि जिस विधि से बने हर उपाय से, उपाय तो इसके अनेक नहीं हैं लेकिन यह जब अनेक विडम्बनाओं में पहुँच गया है तो अनेक विडम्बनाओं से छूटने के उपाय भी अनेक कहलायेंगे। बात तो वह एक ही है, दृष्टि दो अपने में निरख कर लो, लेकिन बाह्य विडम्बना में जो आरूढ़ हुए हैं उससे मुक्त होने के लिए जो जो भी शुभविकल्प बनेंगे वे भी उपाय हैं। सो सर्व यत्न के साथ अन्तस्तत्त्व की दृष्टि करो।

**शुभोपयोग और शुद्धोपयोग की उपयोगिता—** शुभोपयोग और शुद्धोपयोग ये ढाल और अस्त्र की तरह काम देते हैं। जैसे युद्ध में लड़ने वाले सुभट के पास केवल तलवार ही हो, ढाल न हो तो काम न बनेगा और उसके पास ढाल भी हो, पर तलवार न हो तो फिर वहाँ गया ही क्यों? यों ही अशुभोपयोग के जितने विकल्प हैं उनसे बचाव करने के लिए शुभोपयोग ढाल का काम करता है और उन द्रव्यभाव कर्मशत्रुओं को नष्ट करने के लिए यह शुद्धोपयोग, शुद्धतत्त्व की दृष्टि शस्त्र का काम करती है। तो कारणसमयसार का, सहज परमात्मतत्त्व का, सहजस्वरूप का इस भाव का अभी तक अनुभव नहीं किया। इसी कारण यह बाह्य में दृष्टि लगाकर यत्र तत्र भ्रमण करता है, दुःखी होता है और वास्तविक शांति प्राप्त नहीं कर पाता। इसके लिए करने का काम तो एक है- निज अंतस्तत्त्व की दृष्टि। उसमें न रह सका तो जो कार्यसमयसार है, जिसका परम विकास हुआ है ऐसे परमात्मस्वरूप की भक्ति अनुराग करें। व्यवहार से बताया है पंचगुरुभक्ति का कर्तव्य और निश्चय से बताया है निज अंतःप्रकाशमान शुद्ध अविकार सहज चैतन्यस्वरूप की दृष्टि।

**रागादि विभावों के साधन—** अब रागादिक विभावों की उत्पत्ति में किस प्रकार की व्यवस्था है सो सुनो- यहाँ तीन बात ढूँढ़िये, आश्रयभूत साधन, निमित्तभूत साधन और उपादान कारण। मनुष्यों ने यदि स्त्री पुत्र के सम्बन्ध में राग किया है तो उस राग की उत्पत्ति में बाह्य आश्रयभूत साधन तो स्त्री पुत्रादि हैं। निमित्तभूत

साधन रागप्रकृति का उदय है और उपदान कारण है वह आत्मा जो कि रागरूप परिणम रहा है, अब इस तथ्य को कई अंशों में जानना होगा, उनमें से जब हम इस ओर देखते हैं कि सर्वज्ञदेव ने अथवा अवधिज्ञानी ने अपनी अवधि में जो जाना सो हुआ, जानने के कारण नहीं हुआ। बल्कि जो हुआ, सो होता है, जो होगा, जो सत् है वह उनके ज्ञान में है। है ज्ञेय, मगर जान तो चुके वे इसी समय सब कुछ। तब जो ज्ञान में ज्ञात है सो हुआ, सो होगा, यह बात तथ्य से बाहर की नहीं है। ज्ञान का काम जानन है, जान लिया। तो उस ज्ञान की अपेक्षा से जो होना है वह होगा। सो नियत है यह बात ठीक है और जब हम केवल एक पदार्थ को ही देखते हैं, पदार्थ में परिणमन होते रहते हैं और वे परिणमन सब एक साथ नहीं होते, कर्म से होते है और जब जो होना होता है, जब जिस पर्याय में आयेगा, आयेगा। इन दो दृष्टियों से जब निरखते हैं तो जो होना है वह सब नियत विदित होता है, किन्तु जब हम एक इस दृष्टि से देखते हैं कि जो कुछ विभाव हुए हैं वे विभाव क्या आत्मा में स्वभाव के कारण हुए हैं? स्वभाव से ही क्या यह परिणमन चल रहा है? वह वास्तविक परिणमन तो नहीं, विभाव है, विरुद्ध परिणमन है। तो विरुद्ध परिणमन क्या उस द्रव्य के मात्र स्वभाव के कारण हुआ है? तो वहाँ विदित होगा कि उपाधि का सन्निधान पाकर उस उपादान ने अपने में रागरूप प्रभाव बनाया है। तो स्वभाव में नियत न होने के कारण और उपाधि का सन्निधान पाकर प्रकट होने के कारण वही चीज अनियत है। बात एक है, पर देखने की दो दृष्टियाँ हैं।

एक तत्त्व को दो दृष्टियों से देखने पर दो प्रकार से ज्ञात होने का उदाहरणपूर्वक प्रतिपादन— जैसे वस्तुस्वरूप विधिनिषेधात्मक है। जब हम किसी पदार्थ का अस्तित्व निश्चित करते हैं तो पदार्थ अपने स्वरूप से है परस्वरूप से नहीं है- इन दो पद्धतियों में निर्णीत करते हैं। इन दो बातों में कहा क्या गया। दो बातें कही गईं, या एक वस्तु कही गई? एक ही वस्तु कही गई जैसे घड़ी है। इस घड़ी में अपने स्वरूप का अस्तित्व है और इस घड़ी में समस्त परपदार्थों का अघड़ियों का नास्तित्व है। इन दो बातों को कहकर हमने एक पदार्थ की बात कही या अनेक की? जो दो धर्म कहावे एक के दो धर्म कहे या अनेक के? परपदार्थ का नास्तित्व परपदार्थ में नहीं है, किन्तु इस घड़ी में है। घड़ी के स्वरूप का अस्तित्व किसी अन्य में नहीं है, किन्तु उस घड़ी में है। तो जैसे विधिनिषेध कहकर हम एक वस्तु में दोनों धर्मों का भान कर लेते हैं इसी प्रकार एक ही कार्य को हम दो दृष्टियों से नियत और अनियत देख सकते हैं। एक दृष्टि से देखने पर यह विदित होता, एक द्रव्य को ही देखने से कि द्रव्य में लेकर निर्वाध बिना रुकावट के प्रति समय में परिणमन चलते जा रहे हैं। वहाँ और कोई बात नहीं देखी जा रही है। जब कोई उसे हिलाकर कहता है कि भाई बताओ ये परपदार्थ जो जुटते हैं, निमित्त हैं इनकी क्या बात? तो उस समय की उस मिश्र स्थिति में उत्तर होता है कि उस समय उस निमित्त का सन्निधान है लेकिन भैया बतलावो तो सही, इतना भी कहने की आवश्यकता क्यों पड़ गई? निमित्त का नाम ही क्यों लिया जा रहा? बात है क्या? तो कहना होगा कि यों

व्यवस्था बनी है जगत में कि निमित्त सन्निधान पाकर उपादान अपनी योग्यता से अपने विभावप्रभावरूप बनता रहता है। उपाधि का सन्निधान पाये बिना विभावप्रभाव नहीं बनता, अतः विभाव अनियत है।

**सूर्य और प्रकाशित पदार्थों के सम्बन्ध में निमित्त उपादान का विवरण—** निमित्त उपादान की बात को आप अनेक स्थितियों में घटा लीजिए। बहुत से उदाहरण हैं और जहाँ साधारणजनों के चित्त में बहुत से भ्रम पड़े हुए हैं। यह दिन में प्रकाश है, इतना उजेला है तो यह प्रकाश किसका है? प्रायः सभी लोग कहेंगे कि यह प्रकाश सूर्य का है। उनसे जरा पूछो तो सही कि सूर्य कितना? तो उत्तर मिलेगा कि जैसा जिसने समझ रखा है वहाँ ऊपर करीब दो हजार कोश का। तो सूर्य जो कि करीब कुछ कम दो हजार कोश का है तो उसकी चीज उस 2 हजार कोश के स्वक्षेत्र में ही होगी या परक्षेत्र में होगी? वस्तुस्वरूप की यह स्थिति है कि पदार्थ का सब कुछ द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव उस ही के प्रदेश में होगा, अन्यत्र न होगा। तो सूर्य का जो कुछ है वह सूर्य में है, करीब 2 हजार कोश के विस्तार वाले सूर्यप्रदेश में रूप हो, रंग हो, प्रदेश हो, स्पर्श हो, जो कुछ हो उससे बाहर नहीं। यह बात सुनकर कुछ भाइयों को एकदम सन्तोष नहीं हो रहा होगा। लग यों ही रहा कि वाह, प्रकाश सूर्य का ही तो है, न हो सूर्य तो कैसे प्रकाश आयगा? यद्यपि यह बात भी तथ्य की है कि न होता सूर्य तो कैसे आता सूर्यप्रकाश यहाँ? रात्रि में सूर्य सन्निधान नहीं है तो होता ही तो नहीं यह सूर्यप्रकाश। बात तथ्य की है पर यह सूर्य का प्रकाश नहीं है। बात क्या है कि सूर्य भी पुद्गल है, पृथ्वीकायिक विमान है और ये पदार्थ भी पृथ्वीकायिक हैं, कुछ पदार्थ वनस्पतिकायिक हैं लेकिन स्थूलरूप होने से मानो मूर्तिक हैं। जैसे कोई दार्शनिकों ने पृथ्वी-पृथ्वी ही मानी है। काठ भी पृथ्वीकायिक माना, क्योंकि उसके चार ही तत्त्व हैं। पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु। जो कुछ मिट्टी है वह पृथ्वी है, जल जल है, अग्नि अग्नि है, वायु वायु है। पृथ्वी हो, वनस्पति हो, कुछ भी हो, है तो पुद्गल ही। तो जैसे प्रकाश की प्रकृति सूर्य में है वैसे ही प्रकाश की प्रकृति इन सब पदार्थों में भी है। योग्यता न्यारी-न्यारी है। सूर्य में प्रकाश की प्रकृति स्पष्ट है, सहज है, निरपेक्ष है और इन पदार्थों में ऐसे प्रकाशरूप आने की प्रकृति इस ढंग में है कि सूर्य आदिक निमित्त का सन्निधान पाकर ये पदार्थ इस तरह प्रकाशमान हो जाते हैं। और देखो जहाँ यह प्रकाश पड़ रहा है, तेज धूप पड़ रही है वहाँ तो उजेला है, पर जहाँ प्रकाश नहीं है, यहाँ वहाँ यह जो थोड़ा-थोड़ा उजेला है वह कैसे है? यह थोड़ा-थोड़ा उजेला है सूर्य का निमित्त पाकर प्रकाशित हुए उस तेज उजेले वाली भीत का निमित्त पाकर। कभी बच्चे लोगों को खेल करते हुए देखा होगा कि आईना सामने कर लेते हैं कि उस आईना का तेज प्रकाश घर में अंधेरे में पहुँच जाता। तो देखिये वहाँ जो दर्पण प्रकाशित हुआ है वह सूर्य का सन्निधान पाकर और घर में जो तेज प्रकाश गया है वह प्रकाशित दर्पण का निमित्त सन्निधान पाकर हुआ है। सर्वत्र आप यही देखेंगे कि प्रत्येक पदार्थ अपनी योग्यता से अपने में अपना प्रकाश उत्पन्न करता रहता है। पर विभाव प्रभाव में उपाधि निमित्त सन्निधान होता है और स्वभावप्रभाव में निमित्त सन्निधान नहीं, निरपेक्ष

परिणमन होता है। यह सब बात एक कार्यव्यवस्था की कही गई हैं। ऐसा जानकर विरोध न करें, मध्यस्थ होकर साधना की दृष्टि में यहाँ केवल एक ही तत्त्व निहारना चाहिए जाजवलयमान केवल निर्मल ज्ञानज्योति।

**परद्रव्य के विकल्प छोड़कर अंतस्तत्त्व के दर्शन के यत्न का अनुरोध—** भैया ! व्यवहारनय का विरोध न करके मध्यस्थ होकर स्वद्रव्य की दृष्टि से उपजनित निश्चयनय का आलम्बन लेकर अन्तस्तत्त्व के दर्शन का यत्न कीजिये, जिसकी दृष्टि अब तक नहीं की, जिसके कारण अभी तक संसार में रुलते चले आये, अनेक भव धारण करते चले आये। इसमें तत्त्व क्या मिला? क्या मिलेगा इन राग द्वेष मोहादिक के विकल्पों में, बस यही जन्म मरण का चक्र बड़ेगा। और यह निश्चित नहीं है कि इस मनुष्यभव के बाद फिर मनुष्य बने। जगत में देख लो, कितने जीव हैं। यह मनुष्यभव ऐसा है कि इस भव से सभी भव मिल सकते हैं, अन्य जीवों में तो अन्तर है। स्थावर मरकर नरक में न जायेंगे, लेकिन मनुष्य मरकर नरक में भी जा सकते हैं। देव मरकर निगोदिया जीव न बनेंगे, भवनत्रिक प्रथम कल्पवासी देव प्रत्येक वनस्पतिकायिक भी बन सकते हैं, पर निगोद की बात कह रहे हैं। लेकिन मनुष्य मरकर निगोद भी बन जाते हैं, मनुष्य को छोड़कर किसी भी गति का जीव सीधे मोक्ष नहीं जा सकता। मनुष्य मोक्ष भी पा सकता है। तो देखिये मनुष्य के पतन और उत्थान के लिए कितना मैदान पड़ा हुआ है? हम संभलेंगे तो अच्छे संभल जायेंगे और बिगड़ेंगे तो बहुत बिगड़ जायेंगे। हमें चाहिए कि हम अपनी अन्तःसाधना बनायें और अपने आपको संसार के जन्ममरण के संकट से बचा लें। जो कर्तव्य है उस पर दृष्टि दें। ज्ञानार्जन ध्यान और जिस प्रकार का ज्ञान किया है उस प्रकार का उपयोग बने, जिसके बनाने के लिए हमें संयत तो होना ही पड़ेगा। तो यथाशक्ति संयत बनकर हम अपने उपयोग को उस अंतःस्वभाव की ओर ले जायें कि उसका क्षणिक आभास तो हो जाय, ऐसा अन्तः यत्न बनेगा तो सब सुध आ जायेगी कि वास्तविक सार क्या है, और यह सब जगत असार है।

इस लोक में जितने भी पदार्थ हैं वे सब 6 जातियों में बँटे हुए हैं— जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। जो छात्रों को पढ़ाया जाता है कि 6 द्रव्य हैं तो उसका अर्थ यह नहीं कि द्रव्य 6 हैं किन्तु द्रव्य की जातियाँ 6 हैं। द्रव्य तो अनन्तानन्त हैं। अनन्तानन्त जीव, अनन्तानन्त पुद्गल, एक धर्मद्रव्य, एक अधर्मद्रव्य, एक आकाशद्रव्य और असंख्यात कालद्रव्य। तो पदार्थ अनन्तानन्त हैं, पर उनमें से जो पदार्थ जिस जाति में समाविष्ट हो सकता है उसकी एक जाति बता दी गई है। जैसे जीव जितने हैं वे सब एक जीव जाति में आते हैं। जीव की सबसे हल्की अवस्था है निगोद और सबसे ऊँची अवस्था सिद्ध भगवान् की। निगोद की ऐसी निकृष्ट अवस्था है कि जहाँ एक श्वास में अट्टारह बार जन्ममरण करना पड़ता है। स्पर्शन इन्द्रिय के निमित्त से वहाँ निरन्तर अज्ञानदशा है। वह बड़ी निकृष्ट दशा है और सबसे ऊँची दशा है सिद्ध भगवान् की। जहाँ खाली आत्मा रह गया, जहाँ न कर्म हैं, न शरीर है, न कषायें हैं, केवल आत्मा है और



उसका शुद्ध परिणमन है। ज्ञान के द्वारा तीनों लोक को स्पष्ट जान रहे हैं, अनन्त शक्ति है, अनन्त आनन्द है। सो निगोद से लेकर सिद्ध पर्यन्त सभी जीव स्वरूपतः एक समान हैं।

**विविध आत्माओं से अपनी तुलना—** शास्त्रों में ऐसा वर्णन आता है कि भगवान् का आनन्द उतना है जैसे कल्पना करो कि दुनिया में जितने चक्रवर्ती, नारायण, प्रतिनारायण वगैरह हो गए और जितने आगे होंगे और सभी प्रकार के देव जो जो भी सुखी माने जाते हैं उन सबका सुख एकत्रित करो बुद्धि में, उससे भी अनन्तगुणा आनन्द है भगवान् में है तो यह तो समझाने के लिए कहा है। आनन्द तो इससे भी परे है। उस जाति का आनन्द नहीं है प्रभु का जो सांसारिक सुखसमूह का गुणा करके बताया जा सके। भगवान् के तो अनन्त आनन्द है। तो यह समझिये कि जो सिद्धभगवान् में वैभव है, प्रभु के ज्ञान, दर्शन, आनन्द शक्ति है, परम पवित्र है। क्लेश का जहाँ नाम नहीं किसी प्रकार का राग नहीं। शरीर ही नहीं तो दुःख काहे का? यहाँ जितने भी दुःख हैं उन दुःखों पर दृष्टि दें तो भगवान् की महत्ता जानी जायेगी। ये सारे दुःख जहाँ नहीं हैं वे हैं प्रभु भगवान्, यहाँ तो हम आपमें अनेक दुःख, अनेक विडम्बनायें, अनेक झंझट, राग, द्वेष, मोह, भूख, प्यास, क्षुधा, तृषा आदिक चीजें लगी हुई हैं, जन्म मरण के चक्र में पड़े हुए अनेक प्रकार के दुःख सह रहे हैं। ये समस्त शारीरिक दुःख हम आप भोग रहे हैं, पर ये शारीरिक दुःख भगवान् में नहीं रहे। भगवान् में कर्म भी नहीं रहे, खालिस आत्मा ही आत्मा है, केवल चैतन्यप्रकाश है, जिसका काम बस जानते रहना है। उनके अनन्त आनन्द बसा हुआ है। यह है भगवान् का स्वरूप। जब यह विदित होता है तब पता पड़ता है ओह ! हम आपकी कितनी निकृष्ट दशा है। और इस बात को अन्य जीवों की अपेक्षा करके तौलें तो उनकी अपेक्षा हम आप कितना बड़े चढ़े हैं? ज्ञान भी है, पञ्चेन्द्रियाँ भी हैं, मन भी अच्छा मिला है। विचार कर सकते हैं, बोल भी सकते हैं। अनेक पशुपक्षी तो ऐसे हैं जो बोल भी नहीं सकते, कुछ सोच विचार नहीं सकते, हम आप तो बोलचाल में क्रियाकलापों में कितना बड़े चढ़े हैं? तो उन पशु पक्षी आदिक अन्य जीवों की अपेक्षा हम आप बड़ी उत्कृष्ट स्थिति में हैं, मगर हम आपमें जो एक मोह करने की आदत पड़ी हुई है यह हम आपकी बरबादी का कारण बन रही है।

**अपना वर्तमान अवसर और कर्तव्य—** अब जरा सबकी अपेक्षा अपनी स्थिति सोचिये ! कितना सुअवसर प्राप्त है, इतनी उत्कृष्ट स्थिति में आ जाने पर भी पञ्चेन्द्रिय के विषयों में राग होने के कारण हम आप इस मनुष्यजीवन से कुछ लाभ नहीं उठा पा रहे हैं। स्पर्शनइन्द्रिय का कितना बुरा ऐब लगा हुआ है, स्वाद लेने, सुगंधित वस्तुएँ सूँघने, सुन्दर रूप देखने व रागरागनी के शब्द सुनने आदि के अनेक ऐब हम आपमें लगे हुए हैं यही कारण है कि हम आप इस उत्कृष्ट मनुष्यभव से कुछ लाभ नहीं उठा पा रहे हैं। इस मनुष्यभव पाने की सार्थकता तो इसमें है कि हम आप इस उत्कृष्ट मनुष्यभव से कुछ लाभ नहीं उठा पा रहे हैं। इस मनुष्यभव पाने की सार्थकता तो इसमें है कि ऐसा भीतर में ज्ञान जगायें कि जिससे अपने भीतर के सहज

ज्ञानस्वरूप का अनुभव हो जाय, इसके आगे और कोई वैभव नहीं है। अब तो जीवन में चाहे जो आपत्तियाँ आवें, उनकी परवाह न करके एक इसी काम को करने के लिए दृढ़ हो जायें, तो यह बात सुगमतया बन सकती है। उसके लिए संकल्प होना चाहिए। जीव अनन्तानन्त है, उन सबकी अपेक्षा आपकी कितनी उत्कृष्ट स्थिति है? अब भविष्य आगे हमारा कैसा हो, वह सब हमारे भावों के अनुसार निर्भर है। जैसे आज हम आप मनुष्य हो गए तो क्या यों ही मनुष्य हो गए यों ही नहीं हो गए। कुछ हमने शुभकार्य किए थे, अच्छे भाव किए थे, निर्मल दृष्टि बनायी थी, कुछ तपश्चरण भी किया था, बहुत सी अच्छी बातें की थी, उसका यह फल है कि आज हम आप मनुष्यभव में आये हैं। तो अब हमें करना क्या चाहिए? वे ही अच्छी बातें करनी चाहिए, जो बुरी बातें हों उन्हें न करें। भीतर में विकार पिशाच ऐसा पड़ा हुआ है कि जब क्रोध, मान, माया, लोभादिक का ऊधम चलता है तो उसका बड़ा कटुक फल मिलता है इससे अच्छे ही काम अपने जीवन में करते चले जावो। इसी में जीवन की सफलता है नहीं तो एक दिन ऐसा आने को है कि जब मरण करना होगा और सारी पुण्यसामग्री, वैभव, यह मनुष्य जीवन ये सब व्यर्थ चले जायेंगे।

**तत्त्वज्ञान का परिणाम—** यहाँ उस ज्ञान के बारे में ये सब चर्चायें चल रही हैं जो ज्ञान हमारा कल्याण करेगा हमको उस तत्त्वज्ञान में क्यों बढ़ना चाहिये? यों कि अन्य बातों में सार कुछ नहीं रखा है। यहाँ कुछ करते जावो, ढेर है, पौद्गलिक चीजें हैं। आपने लाखों करोड़ों का धन कमा लिया तो क्या है, पड़ा है। अब जिन-जिन जीवों के उपभोग में आयेगा वे उस धन का उपभोग करेंगे। आपने उस धन का क्या कर लिया? तुमने मान लिया कि ये मेरे बच्चे लोग हैं इनके काम आयगा यह सब धन, तो कौन किसका बच्चा? मरने के बाद तो फिर कोई किसी का नहीं रह जाता। सभी जीवों का स्वरूप देखो— सब जीव स्वरूपदृष्टि से एक समान हैं। यहाँ पर धनवैभव की वृद्धि की होड़ मचाना अविवेक है। यह सब विकार का ऊधम है। अपने आपकी ओर दृष्टि न जगे, शान्ति का मार्ग न पाया तो यह सब ऊधम किया जा रहा है। इस ऊधम से विराम लें, इसमें कुछ सार नहीं है। क्या कर लिया जाय कि सार है? एक-एक बात को समझो। धन कमा लिया तो उसमें सार क्या? जब तक वह धन पास में है तब तक भी शान्ति नहीं, बल्कि अशान्ति ही है। आत्मा को तो अपने आपके तत्त्वज्ञान से ही शान्ति है और दूसरा उपाय नहीं है। ज्ञान करें कि मैं क्या हूँ, जब सबसे निराले, शरीर से भी न्यारे चैतन्यस्वरूपमात्र निजआत्मतत्त्व की दृष्टि रहेगी उस समय आपके सारे संकट समाप्त हो जायेंगे। जब यह निजअनुभव छूटेगा, बाहर में दृष्टि देंगे, फिर संकट आ जायेंगे, लेकिन एक बार अपने आत्मतत्त्व का अनुभव होने पर फिर ये संकट सता न सकेंगे। इनमें अन्तर आ जायगा। यह बात मिलती है तत्त्वज्ञान से। क्या देखना? इन सब अनन्तानन्त पदार्थों में प्रत्येक पदार्थ परस्पर एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न है। किसी पदार्थ का किसी अन्य पदार्थ के साथ रंचमात्र सम्बंध नहीं है। सत्ता ही न्यारी है। सब अपने-अपने में उत्पादव्ययध्रौव्य रख रहे हैं। कोई पदार्थ रह ही नहीं सकता बिना परिणमन के। स्वभाव ही

उसका है कि वह निरन्तर परिणमता रहे। बिना परिणमे किसी पदार्थ की सत्ता नहीं रह सकती। सब पदार्थ परिणमते रहते हैं। उन परिणमनों में जो विभावपरिणमन है वह विकारपरिणमन अहित है। जन्ममरण की परम्परा बढ़ाने वाला है। यह ही मेरा खास शत्रु है। जिन कषायों को पकड़े हुए हैं, जिन कषायों में आकर विवेक खो देते हैं और वही सूझता है और कषायें रहती हैं, ये कषायें हमारी दुश्मन हैं। कषायों का अंशमात्र भी न रहे। कषायों का रहना अनर्थ है, यह तो तथ्य ही है। कषायें सब दब गई हों और उसका प्रकट अनर्थ भी नहीं हो रहा है तब भी भलाई की बात नहीं मिल पाती। वह कषाय फिर उमड़ती है तो फिर क्लेश का ही कारण बनती है। तो कषाय का अंश भी महाक्लेश करने वाला है। यह कषाय न जगे, जन्ममरण की परम्परा मिटे, अपने आपके विशुद्ध ज्ञानस्वरूप में निरन्तर अनुभवन चले, यह ही तो बात चाहिए।

**कषायों की निवृत्ति का निर्णय—** कषायों से हम दूर हट सकें, इसके लिए हमें थोड़ा यह ज्ञान चाहिए कि क्या ये कषायें हट सकती हैं। जिस काम को करने के लिए कोई तैयार होता है तो उसकी समझ में यह बात रहती है कि क्या यह मुझसे काम बन जायगा? जब समझ में आता है कि हाँ, यह काम बन जायगा तब उद्यम करके काम को बनाता है। मुझे कषायों से हटना है, ये विकार मेरे शत्रु हैं। इन विकारों से मुझे दूर रहना है। तो क्या यह काम बन सकता है? हाँ बन सकता है। कैसे बन जायगा? जब कषायें मुझमें हो रही हैं और पहिले से होती चली आ रही हैं तो ये हट कैसे जायेंगी? कुछ विवेक करने पर वस्तुस्वरूप जानने पर परिणमन की विधि समझने पर विदित हो जायगा कि ये कषायें मेरे स्वभाव में नहीं हैं? वहाँ समाधान यह मिलेगा कि चूँकि ये उपाधि का निमित्त पाकर हुई हैं, मेरे स्वभाव से नहीं उठी है इस कारण से ये परभाव हैं, ये मिट सकती हैं। जो चीज नैमित्तिक हैं, औपाधिक हैं, वे चीजें मिटाई जा सकती हैं। कषायें मिटें कैसे, यह समझने के लिए यह निर्णय आवश्यक है कि कषायें औपाधिक हैं, मेरे स्वरूप से उठी हुई नहीं हैं, परभाव हैं। यदि यहाँ यह पूछा जाय कि कषायें परभाव हैं तो रहने दो, नाचने दो, ये मेरी तो नहीं हैं, ये तो कर्मों के उदय से हुई है। तो उत्तर मिलेगा कुछ सोचने पर कि यद्यपि ये कषायें औपाधिक हैं, उपाधि का उदय पाकर हुई है, लेकिन परिणमन इनका मेरे में है। क्या ऐसा भी हुआ करता है कि परिणमन तो मेरे में हो और हो किसी अन्य के उदय का निमित्त पाकर? हा, होता रहता है, दृष्टान्त ले लो दर्पण का। दर्पण के सामने हाथ किया गया और दर्पण में हाथ की छाया आ गई। देखो वहाँ दोनों बातें हैं। दर्पण की छाया मिट सकती है क्या? हाँ। जानने वाले लोग समझ सकते हैं कि हाथ का निमित्त पाकर यह छाया बनी है। हाथ हट गया तो छाया हट गई। यह कारण कार्यविधान की बात कह रहे हैं। तभी तो यदि उस छाया से कुछ अरुचि है तो वह उसे दूर कर लेता है। तो हाथ का निमित्त पाकर दर्पण में छाया हुई है। तो छाया अगर हाथ की है तो रहने दो। दर्पण का उससे क्या बिगड़ा? सो सुनिये छाया का परिणमन दर्पण में है, दर्पण का है। हाथ तो निमित्त मात्र है। तो यह कषायभाव इस तरह उत्पन्न हुआ है कि कर्मों का उदय हुआ , उसका

निमित्त पाकर आत्मा में कषायपरिणमन जगा। आत्मा में आत्मा की योग्यता से आत्मा की परिणति से आत्मा में कषाय जगा, लेकिन वह औपाधिक है अतएव विभाव है और मेटा जा सकता है, औपाधिक चीज मेटा जा सकती है, निरुपाधि चीज नहीं मेटा जा सकती। तो हमको इस निमित्त प्रक्रिया से जानने में एक साहस मिला। यह निमित्त मिटाया जा सकता है क्योंकि औपाधिक है। ऐसा उपाय करें जिससे उपाधि दूर हो जाय, ये कर्म दूर हो जायें। फिर यहाँ औपाधिक भाव रहेगा नहीं।

**विभावों से निवृत्त होने का उपाय—** अब देखिये, ऐसा उपाय क्या निकले कि जिससे उपाधि दूर हो सके? उसका उपाय यही है कि चूँकि उपाधि परद्रव्य है। तो जब हम उपाधि के फल में राग कर रहे हैं तो यह उपाधि का बन्धन बनता रहेगा। हम उपाधि के फल में राग न रखें और उस विभाव से विकार से विकार से भिन्न जो मेरा स्वरूप है उसे समझें। देखिये— वस्तु को स्वतंत्र-स्वतंत्र समझने की बड़ी महिमा है। उपाधि के, कर्ममल के, जन्ममरण के संकट दूर करने का हम आपके लिए एक ही उपाय है, अपने परिपूर्ण स्वतंत्र स्वरूप को जान लें, फिर जो भी होना चाहिए कल्याण के लिए वह होता रहेगा, हो जायेगा। अपने आपको पहिचान लें कि मैं आत्मा परपदार्थों से निराला केवल चैतन्यप्रकाश मात्र हूँ, परख लो अपने आपको, भला हो जायेगा। यह बात जानी जायेगी वस्तुस्वरूप के ज्ञान से। प्रत्येक पदार्थ अपने में अपनी सत्ता लिए हुए परिपूर्ण है और अपने उत्पादव्यय से परिणमता रहता है। तो क्या इस जीव पदार्थ ने विकार उत्पन्न करने के लिए कर्मोदय की अपेक्षा नहीं की? हाँ नहीं की। नहीं की अपेक्षा, फिर भी कर्मोदय का निमित्त पाकर ये विकार हुए हैं। कर्मों की हमें जानकारी तक भी स्पष्ट नहीं है और हम आपको आगम के अनुसार जानकारी है, लेकिन ये (अनन्त) जीव तो संसार में रुल रहे हैं इनको कर्म की कुछ भी जानकारी नहीं है तो वे कर्म की अपेक्षा क्या करें, कर्म का आश्रय क्या करें? लेकिन वहाँ सहज निमित्तनैमित्तिक ऐसा सम्बन्ध है कि कर्म का उदय पाकर जीव अपने विकार से परिणत होते रहते हैं।

**ज्ञानी गृहस्थ की विचारधारा—** अब इस सिलसिले को बतलाते हैं कि जिससे इन कर्मों का बंधन न हो और संसार में जन्म मरण की परम्परा बड़े। उसका उपाय है सबसे निराले विशुद्ध परिपूर्ण अपने सहज चैतन्यस्वरूप का बोध करना। मैं पूरा हूँ, स्वरक्षित हूँ, अपने में अपनी परिणति से परिणमता हूँ। इस लोक का क्या भय? लोग तो इस लोक का बहुत भय करते। अभी कोई ऐसा कानून बन जाय कि एक व्यक्ति 50 हजार से अधिक की सम्पत्ति नहीं रख सकता। लो इतनी बात सुनने में आयी भर कि चिन्ता तभी से करने लगते हैं, लेकिन जो ज्ञानी पुरुष है वे जानते हैं कि यह सम्पदा मेरी कुछ नहीं है, चली गई तो क्या हुआ? वह तो मेरी थी ही नहीं। बंटवारा हो गया तो क्या हुआ? मैं तो एक चैतन्य स्वरूप को लिए हुए उतना ही पूरा हूँ। उतने में ही रहने वाला हूँ। मेरा तो कुछ भी नहीं घटा। कोई जीव परलोक का भय करते हैं। सो इस लोक का भय करने वाले की अपेक्षा वे जरा अच्छे माने जाते हैं। जो लोग ऐसा सोचते हैं कि मेरी परलोक

में दुर्गति न हो, मुझे स्वर्ग मिले, नरक न मिले, खोटी गति न मिले, अच्छी जगह हम उत्पन्न हों, इसके लिए हमें अच्छे काम करना चाहिए, बुरे कामों से दूर रहना चाहिए। जिनका ऐसा कुछ विचार चलता है वे लोग इस लोक का भय करने वालों से अच्छे हैं। लेकिन अभी तक जिसने अपने विशुद्ध विकार स्वरूप को नहीं जाना और यह नहीं परखा कि मेरा तो परलोक है ही नहीं, यही मेरा स्वरूप परलोक है, मुझे तो परलोकमात्र भी न चाहिए, उसमें खोज क्या करना कि ऐसी गति न मिले, ऐसी गति मिले। अरे मेरे स्वरूप में तो कोई गति नहीं है, कोई भव नहीं है। मैं भवरहित, गतिरहित, शरीररहित, केवल चित्प्रकाशमात्र हूँ। वह मुझे दृष्टि में रहना चाहिए। यदि देव हो गए, इन्द्र हो गए, राजा हो गए और यह दृष्टि नहीं प्राप्त हुई तो भी मुझे क्या लाभ? अरे विपाक ऐसा हो कि नरक भी हो गया हो और ऐसी दृष्टि मुझे मिल रही हो तो उस अन्तः दृष्टि हुए अपने मोक्षमार्ग में जब भी लगे हुए हों तो मुझे तो अपने सहजस्वरूप की दृष्टि चाहिए। ऐसे विचार वाले लोगों को इहलोक और परलोक का भय नहीं रहता। वेदनाभय की बात कुछ कठिन है। शरीर में कोई रोग हो गया, बुखार, खाँसी वगैरह कोई बीमारी हो गई तो चूँकि हम आपमें शरीर का बन्धन लगा है इसलिए उस शारीरिक वेदना को सहना हम आपको कठिन हो रहा है। अब उसे दुःखपूर्वक सहते कि हँ ! मैं बहुत परेशान हूँ, मुझे बड़ी पीड़ा है, हाय कैसे मेरी यह वेदना मिटेगी? अरे जैसे हो सो हो, परेशानी कुछ नहीं है। यह वेदना भी चल रही है, यह भी स्थिति है, वह भी समझा जा रहा है, मैं तो एक चैतन्यमात्र हूँ। उसमें उपयोग रहता है तो इतना विकट उपद्रव भी मेरे को नहीं सताता। भूल तो हमारी यही है कि जो हम अपने स्वरूप में नहीं टिक रहे। वहाँ वेदना क्या? वहाँ रोग क्या? वहाँ भय क्या। तो जैसा ज्ञान बढ़ेगा वैसा ही अपनी दृष्टि निर्मल होगी। वेदनाभय भी न रहेगा, फिर अन्य भय जो केवल मानसिक विकल्प हैं- मेरी रक्षा का साधन नहीं, मेरा बढ़िया घर नहीं, मेरे किवाड़ मजबूत नहीं, कोई मेरा सहाय नहीं, मैं तो बड़ा असहाय हूँ, मेरा कैसे गुजारा होगा? अरे सारे लोग विरुद्ध हों, खुला मैदान हो, चोर उठा ले जायें, कुछ भी न रहे, कैसी भी स्थितियाँ आयें तो ठीक है, आने दो, आवें, मैं तो अपने स्वरूपमात्र हूँ। मेरे उपयोग में मेरे को कोई बाधा नहीं। किन्तु इतनी हिम्मत कोई कर सकेगा क्या? इसके लिए बड़ा ज्ञानबल चाहिए, सही तत्त्वज्ञान चाहिए, तब यह बात बन सकेगी। यों साधारण सहज न बनेगी।

**मोहबन्धन शिथिल न करने की आदत में शान्ति की आशा की व्यर्थता—** भैया ! जो मोह बनाये हुए हैं, उस विकार को ढीला करना है। यों आदत बनायें हुए हैं कि हमारे पैसों का जो खर्च है वह हमारे स्त्री पुत्रों के लिए है, बाकी सब तो गैर लोग है। यहाँ कुछ आदत बदलनी है। अरे ऐसी आदत बनायें कि दूसरों के लिए भी अपना कुछ खर्च करके अपने इस मोह को ढीला करें। मोह में यही तो हो रहा है। जो कुछ धन है, वह सब अपने स्त्री पुत्रादि के लिए ही खर्च करने को तैयार रहते हैं, बाकी लोगों को तो गैर समझते हैं, उनके लिए यदि कभी कुछ खर्च करना पड़ा तो बड़ा हिसाब लगाते हैं। अरे अपनी आदत कुछ ऐसी बनाओ कि

दूसरों की पीड़ा हरने में, दूसरों का काम सुधारने में, दूसरों को सुख शान्ति दिलाने में यदि कुछ खर्च करना पड़ता है तो खुशी-खुशी से खर्च करने को तैयार रहें। ऐसी आदत बनाने से यह मोह ढीला हो जायगा। मोह को दूर करने का मुख्य उपाय है ज्ञान, भेदविज्ञान। वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान करें तो मोह दूर होगा। मोह दूर होने पर ही हम आपको शान्ति का मार्ग मिलेगा। मोह में शान्ति की आशा करना व्यर्थ है। उतना व्यर्थ है जैसे ईन्धन में आग डालकर उससे ठंडक की चाह करना व्यर्थ है, ऐसे ही मोह करके शान्ति लाभ की आशा करना व्यर्थ है। भैया ! अब यह जान गए होंगे कि ये जो कषायभाव उत्पन्न होते हैं, ये औपाधिक हैं, कर्मोपाधि का निमित्त पाकर हुए हैं, अतः ये मिटाये जा सकते हैं, पर मिटाने का तरीका क्या है? कर्मों पर दृष्टि नहीं, निमित्त पर दृष्टि करना नहीं, किन्तु स्वभाव वाला जो अपना आत्मतत्त्व है, सहज चैतन्यस्वरूप है उसको दृष्टि में लेना है। वह उपयोग में बना रहे तो शान्ति का मार्ग, कर्म करने का मार्ग, कषायों का दूर करने का मार्ग मिलेगा। इससे ज्ञानार्जन का उद्यम करें और अपने आपमें अन्तःशक्तिमान सहज चैतन्य प्रभु का भान करें।

**अपनी वृत्ति के प्रयोजन का निर्णय—** धर्म के प्रसंग में जो कुछ करना है वह अपने लिए, सुनना है वह अपने लिए, बोलना है वह अपने लिए। इस प्रकार की पहिले धारणा रखकर जो कदम बढ़ाये जाते हैं उनमें फिर सफलता प्राप्त होती है। वास्तविकता यह है कि हम आप लोग इस समय बहुत कड़ी विपत्ति में फँसे हुए हैं और आज पुण्य के उदय में इस ठाठ के समागम में मालूम नहीं पड़ रहा है, लेकिन कितनी कठिन विपदा है? एक व्यक्ति पर नहीं बल्कि जितने लोग यहाँ बैठे हैं उन सभी पर। वह कठिन विपदा क्या है? वह विपदा है जन्म मरण की। जन्मते हैं, मरते हैं। उसके बाद दूसरे जन्म होंगे, उनके बाद भी यह जन्म मरण की विपत्ति बनी रहेगी। यही जन्म मरण की वृत्ति अनादिकाल से इस जीव की चली आ रही है और उस विपत्ति में हम आप सब फँसे हुए हैं, तिस पर भी गजब की बात यह है कि जिसको जो जिन्दगी मिली है उस जीवन में जो समागम मिला है, उस समागम को ही अपना सर्वस्व मानकर एक बहुत गहन अंधकार में पड़ा हुआ है। इसका दिल जब ऐसा कह उठे कि जगत के जितने जीव हैं वे सब मेरे स्वरूप के समान हैं और जो घर में रहते हैं वे भी वैसे ही स्वरूपवान हैं, जैसे जगत् के सब जीव हैं, उनमें इनसे कोई खासियत नहीं है कि ये मेरे कुछ बन जायें। पदार्थ अपने आपमें परिपूर्ण होता है, वह अधूरा नहीं है। कहीं मैं ऐसा अधूरा नहीं हूँ कि मेरे मित्र लोग मुझे पूर्ण बना देंगे या ये घर के लोग कोई अधूरे नहीं हैं कि आपको उन्हें पूर्ण करना पड़े। लेकिन ऐसा कुछ मोह का अंधकार है कि लोग ऐसी श्रद्धा कर बैठे हैं कि मेरा सुख, मेरा हित, मेरा सब कुछ इन लोगों से है। अरे इस जगत में सब अनाथ हैं। यहाँ कोई किसी का सहाय नहीं, और यदि अपने आपके भीतर की निधि का पता पड़ जाय तो सब अपने सहाय पर आ गए। इतना भर अन्तर है-

जिसने अपने नाथ को नहीं पहिचाना वह अनाथ है और जिसने अपने अन्तः प्रकाशमान नाथ की ओर एक बार क्षणभर भी दृष्टि दी, बस वह सनाथ है, वह स्वसहाय है, वही वास्तविक आनन्द का पात्र है।

**लोक में पर से अनाथत्व की एक कथा—** एक राजा कहीं जा रहा था तो उसे जंगल में एक मुनिराज जो युवावस्था के थे, बड़ी प्रसन्न मुद्रा में बैठे हुए थे। उनकी सूरत देखकर ही राजा का चित्त हर गया और मुनिराज के पास वह राजा बैठ गया। कुछ देर राजा प्रतीक्षा करता रहा कि महाराज अपनी आँखें खोलें तो मैं कुछ बात करूँ। जब काफी समय प्रतीक्षा करते हो गया तो राजा हाथ जोड़कर बोला- महाराज ! मेरी बात सुनो। मुनि ने नेत्र खोल दिए। मैं बहुत देर से बैठा हुआ आपकी प्रतीक्षा कर रहा हूँ। आपको देखकर मुझे बड़ी दया आयी, आप यहाँ अकेले हैं, आपके तन पर वस्त्र भी नहीं हैं, आपके पास कोई आदमी भी नहीं है, खाने-पीने का कोई साधन भी नहीं है, आपके आराम का कोई साधन नहीं है, आपकी ऐसी हालत देखकर मेरे मन में ऐसा आया कि मैं इनका दुःख दूर करूँ। सो कृपा करके आप बताइये कि आप कौन हैं? तो मुनिराज बोले। मैं अनाथ मुनि हूँ। तो राजा बोला- महाराज ! अब आप ये शब्द मत बोलें- आज से मैं आपका नाथ बनता हूँ, आप हमारे घर चलो, वहाँ खूब ठाट-बाट से रहो, आपसे हम कुछ काम भी न लेंगे। आप आनन्द से रहना। आज से हम आपके नाथ बन रहे हैं। तो वह मुनि पूछते हैं कि आप कौन हैं? तो वह राजा बोला— अरे मैं अमुक राजा हूँ। मेरे पास बड़ा ठाटबाट है, बड़ी सेना है, 200 नगरों का मालिक हूँ, मैं एक बहुत बड़ी विभूति का स्वामी हूँ। हे महाराज ! आप रंच भी किसी प्रकार का सन्देह न करें। अब आप अनाथ नहीं रहे। मैं आपका नाथ हूँ। तो वह मुनिराज बोले- राजन् ! पहिले मैं भी आप जैसा ही था। ऐसे ही ठाट बाट मेरे पास भी थे।...तो फिर आपने सब कुछ क्यों छोड़ दिया? तब फिर आप अपने को अनाथ क्यों कहते हैं?...राजन् ! एक बार मेरे सिर में बड़े जोर का दर्द हुआ, उस समय मेरे परिवार के सभी लोग मेरे पास थे, सभी बड़ी दया भरी प्रेमयुक्त बातें भी बोलते थे, सब प्रकार की दवायें भी करते थे, पर मेरे उस दर्द के दुःख को कोई रंच भी न बाँट सका, बस मेरी समझ में आ गया कि मेरा यहाँ कहीं कुछ नहीं है, मेरा कोई नहीं है, और मैं सब कुछ छोड़कर यहाँ चला आया हूँ। और तभी से मैंने समझ लिया था कि मैं इस लोक में अनाथ हूँ अर्थात् यहाँ मेरा शरण, रक्षक, हित् को कोई नहीं है। तो भैया ! यहाँ कोई किसी का शरण नहीं। यहाँ किसका आलम्बन लें?

**जन्ममरण से छुटकारा पाने का उपाय बनाने में ही बुद्धिमानी—** हम आप इस जन्ममरण की बड़ी विपत्ति से छुटकारा पाने की कोई बात नहीं सोच रहे हैं, यह कितनी बड़ी भारी भूल है? हम आप जिस भगवान के दर्शन करने प्रतिदिन मंदिर जाते हैं, जिनके नाम पर बड़े-बड़े मंदिर बनवाते हैं, बहुत-बहुत पूजापाठ करते हैं, बड़े-बड़े विधान करते हैं उनमें क्या खास बात है? खास बात यही है कि वे जन्ममरण के चक्र से सदा के लिए छूट गए, उन्होंने अनन्त आनन्द प्राप्त कर लिया। अब वे अपने शुद्ध ज्ञान में निरन्तर बर्त रहे हैं, कोई

विकल्प नहीं है। भाई इस प्रकार की परिस्थिति अवस्था हम आपकी भी हो सकती है। आखिर द्रव्य वही है, जीवद्रव्य एक स्वरूप है, वहाँ भेद नहीं है। जैसा प्रभु का स्वरूप है वैसा ही मेरा स्वरूप है, लेकिन अन्तर यही ऊपर हो गया कि वे वीतरागी हैं, पूर्णज्ञानी है और हम सरागी हैं अल्पज्ञानी हैं। तब यह कोशिश करनी चाहिए कि हम जिस प्रकार भी हो सके, वीतरागता प्राप्त करें। उसका उपाय है तत्त्वज्ञान। तत्त्वाज्ञान यही है कि भली-भाँति यह समझ लें कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में परिपूर्ण है, स्वतंत्र है, किसी दूसरे की अपेक्षा से रहित है। देख लें कि प्रत्येक पदार्थ अपने-अपने स्वरूप में परिपूर्ण है। मैं भी अपने आपमें परिपूर्ण हूँ, तब मेरा दुनिया से क्या वास्ता? ऐसा वस्तु की स्वतंत्रता का भान होने से मोह टूटता है। इस मोह को तोड़े बिना इस जीव को कल्याण न मिलेगा। इस प्रकार का अन्तः यत्न करें तत्त्वज्ञान का कि जिससे यह मोह टूटे। यहाँ सारी महिमा मोह दूर करने की है। सब कुछ किया, किन्तु अपना मोह न हटा सके तो जन्ममरण की विपत्ति से छूटने की बात न आ सकेगी। इससे भैया, कैसा दुर्लभ यह मनुष्यजीवन पाया है, जिनवाणी का समागम पाया है, सुकुल पाया है, श्रेष्ठ मन मिला है, समय समय पर सत्संग भी मिलता रहता है। ये सब बातें हम आपने प्राप्त की है। अब इनका सदुपयोग कर लें तो ठीक है। और अगर इनका सदुपयोग नहीं करते तो बड़े झंझट में पड़ जायेंगे।

**मनुष्यभव के अनुपम सदुपयोग का अनुरोध—** एक नगर था, जिसमें राजा बनने की यह तरकीब थी कि किसी को एक वर्ष के लिए राजा चुन लिया जाता था और एक वर्ष बाद उसे राज्यपद से उतारकर निर्जन वन में छोड़ दिया जाता था, इसलिए कि अगर यह बस्ती में रहेगा तो इसका अपमान होगा, कि देखो यह अभी तक तो राजा था और अब इस हालत में है। तो बहुत से लोग राजा बने और जंगल में छोड़े गए। एक बार कोई विवेकी पुरुष भी राजा बना। अब उसने सोचा कि एक वर्ष तक के लिए तो मेरा सब कुछ अधिकार है, मैं जो चाहे कर सकता हूँ, सो उसने क्या उपाय किया कि एक जंगल के बीच में खेती का फार्म बनवाया, उसके अन्दर मकान बनवाया, खेती करने वाले बैल व बहुत से औजार भिजवा दिये, बहुत से नौकर-चाकर भिजवा दिये। जब एक वर्ष बाद वह राज्यपद से च्युत करके जंगल में छोड़ा गया तो उसे क्या कष्ट? वह तो वहाँ भी खूब मौज में रहा। तो इसी तरह से हम आप इस संसार में कुछ वर्षों के लिए राजा बन गए हैं, ऐसा समझ लें। क्योंकि समस्त जीव जन्तुओं में राजा है यह मनुष्य। अन्य जीवों की अपेक्षा हम आप मनुष्यों में बहुत अधिक श्रेष्ठता है। तो वन तो गए राजा, पर अब हमारा कर्तव्य क्या है सो तो विचारो? इस संसार में हम आप जन्म मरण करते हुए घोर दुःख पा रहे हैं। आज इस मनुष्यभव में आये हैं। यदि कोई विवेकी पुरुष हो तो उसका कर्तव्य है कि इस पाये हुए श्रेष्ठ मन के द्वारा कोई ऐसा उपाय बना ले कि जिससे कुयोनियों में भ्रमण न करना पड़े। भैया, यहाँ का तो यही नियम है कि यदि अपने आपकी संभाल न की तो नरक निगोदरूपी बीहड़ वन में हम आप पटक दिए जायेंगे। फिर वहाँ हित का पंथ न मिलेगा तो अच्छा है



कि इस श्रेष्ठ मन से अच्छे विचार करें, मैं इस समय भी इस देह से भी निराला एक चैतन्य प्रकाशमात्र आत्मतत्त्व हूँ। इस प्रकार का अपने आपके प्रति विचार चले, चिन्तन चले, बाहरी बातें सोचने से कुछ लाभ नहीं। हम सोचें अपने आपके भीतर की बात। कितने भीतर की बात। भीतर ही सब कुछ एक ऐसी संमुखता और परान्मुखता की हद है कि जरा-सी भूल में यहाँ (अपने आपके अन्दर की बात) न सोचकर बाहरी बातें सोचने में आयें तो वह बाहरी खिंचाव बहुत अधिक बढ़ जाता है। वह फंसाव एक ऐसा फंसाव है कि बढ़ता ही जाता है। तो हमें अपने आपको स्वभाव में केन्द्रित करना है और अपने में अपने उस नाथ को निहारना है जो कि पूर्ण शुद्ध है। वहाँ उपयोग जायेगा तो अपने आपको एक अलौकिक दुनिया मिलेगी। उसकी प्राप्ति के लिए आवश्यक है कि हम अपने ज्ञान की ओर बढ़ें। वही हमारी कदम हमारे कल्याण का कारण बनेगा।

**द्रव्य का स्वरूप व परिणमनविधान—** द्रव्य का स्वरूप है कि वह है और परिणमता है। प्रत्येक पदार्थ 'है' तभी कहलाता है जब कि परिणामी हो। परिणामी न हो तो अस्तित्व नहीं हो सकता। प्रत्येक पदार्थ में परिणमन निरन्तर चलता ही रहता है। तो पदार्थ में पदार्थ की ओर से केवल परिणमन सामान्य की बात यह तो शाश्वत् निश्चित ही है। अब उसके साथ-साथ चूंकि सामान्य विशेषरहित नहीं होता तो जो भी अवस्था हुई है वह एक विशिष्ट पर्याय कहलाती है। समस्त द्रव्यों में दो द्रव्य हैं जो विभावरूप परिणमन सकते हैं- जीव और पुद्गल। शेष के चार द्रव्यों में विभावरूप परिणमन न कभी हुआ है, न कभी हुआ था और न कभी हो सकेगा। केवल दो जाति के पदार्थ हैं जिनमें परिणमन होता है, अब इन विभावपरिणमनों को हम जब वैज्ञानिक दृष्टि से देखते हैं, कार्यकारण की दृष्टि में निरखते हैं तो वहाँ यह विदित होगा कि योग्य उपादान अनुकूल निमित्त सन्निधान पाकर अपने आपमें अपने ही प्रभाव से अपने में विभाव प्रभाव उत्पन्न करते रहते हैं, ऐसे विभावपरिणमन की निष्पत्ति की प्रकृति है। इनमें से किसी भी बात को मना करके देखें तो उत्पत्ति न बनेगी। योग्य उपादान अपने ही प्रभाव से अपनी ही शक्ति से स्वयं ही बिना निमित्त पाये सन्निधान बिना, उपाधि बिना अपने ही स्वभाव से विभावरूप परिणमता है, ऐसा स्वीकार करने में विभाव परिणाम के अन्त का अवसर नहीं आ सकता। चूंकि ये विभाव हैं, पर का सन्निधान पाकर हुए हैं, इस कारण इनकी स्वरूप प्रतिष्ठा नहीं है, अतएव ये पृथक् हो सकते हैं। यदि हम पक्ष को लेकर चलें कि उपादान में योग्यता की बात क्या। निमित्त पड़ेगा तो वह जबरदस्ती परिणमा देगा, तो भला यह बतलाओ कि निमित्त स्वयं परिणममान को परिणमाता या जो खुद न परिणमे उसे परिणमाता है। अर्थात् परिणमने वाला तो वह खुद उपादान है। वह अपने ढंग में अपने में परिणमन कर रहा है। तो जो परिणमन कर सके, परिणम सके ऐसे परिणम रहे उपादान का ही तो कोई निमित्त हो सकेगा अन्यथा कोल्हू यदि तेल पेल देने का निमित्त है तो कोल्हू में बालू डाल दी जाय तो उससे भी तेल निकाल दे, पर ऐसा कहाँ होता? तो यह पक्ष भी न बन सकेगा कि निमित्त उपादान को परिणमा देता है, उसमें योग्यता आदिक की क्या आवश्यकता है? तब स्थिति यह है कि निमित्त

सन्निधान पाकर योग्य उपादान अपने में अपने प्रभाव वाला बनता है। अब वैज्ञानिक दृष्टि से यह बात आयी और इस दृष्टि से पर्याय अनियत हुआ। जैसा योग्य उपादान है, वैसा निमित्त सन्निधान है उस व्यवस्था में उस प्रकार का परिणमन हुआ।

**अनियत पर्यायों को नियतरूप से देखने की दृष्टि—** अभी एक-एक दृष्टि से देखते चलें फिर सब देखकर कुछ समय बाद निष्कर्ष पायेंगे। अभी विधान की बात देखें, इसी रीति से जगत की व्यवस्था बनी हुई है। लोग समझते हैं कि इस प्रकार का योग्यपदार्थ ऐसे योग्य अनुकूल निमित्त सन्निधान में इस तरह परिणम जाता है, तभी तो लोग रोटी बना लेते या अन्य कार्य उत्पन्न कर लेते, या किन्हीं भी व्यावहारिक कार्यों में प्रवृत्त होते हैं। उनको पूर्ण श्रद्धा है कि इस प्रकार के निमित्त को लेकर यह रोटी बन जाया करती है, उसमें कोई भूल नहीं बना रहा। इससे सिद्ध है कि कारण कार्य का जो विधान है वह यथार्थ है और उस ढंग से क्रिया निष्पन्न होती है। उसमें तीन कारण हुआ करते हैं- उपादान कारण, निमित्त कारण और प्रतिबंधक का अभाव। इस प्रकार विभावों की उपपत्ति हुआ करती है। इस कारण कार्य विधानपूर्वक उत्पन्न होने वाले अनियत पर्यायों को चूंकि भगवान सर्वज्ञदेव ने अथवा विशिष्ट अवधिज्ञानियों ने देख लिया। अनियत पर्यायें जब-जब जिस तरह उत्पन्न होती हैं वे सब ज्ञान में आ गईं। तो अनियत ढंग से उत्पन्न होने वाली अनियत पर्यायों को चूंकि ज्ञानी पुरुष ने जान लिया, अब उस जानने की ओर से जब परखा जाता है तब वे पर्यायें नियत हैं, अर्थात् जब जो होना है, जब जो जाना गया है उस समय में वह पर्याय होती है। उस दृष्टि में चूंकि ज्ञानियों द्वारा वह दृष्ट है और वह होता है यों सब नियत है। अनेक ऐसे उदाहरण मिलेंगे पुराणों में कि बताया जो कुछ वह हुआ। नेमिनाथ स्वामी के समवशरण में बात आयी कि 12 वर्ष में यह द्वारिका भस्म होगी, सो उपाय तो बहुत किए गए पर हुआ वैसा ही। तो नियत में कारण कार्यविधान का लोप करके देखने से विवाद और एकान्त उलझन हो जाती है, नगर कार्यकारण विधानपूर्वक होने वाले परिणमनों का कारणकार्य विधानपूर्वक होता है, अतएव अनियत कहलाता है। इस प्रकार होने वाले उन अनियत परिणमनों को चूंकि जान लिया तो जैसा होना था वैसा हुआ। यहाँ जैसा होना है वैसा जान लिया, यह बात तथ्य की है, अब निष्कर्षरूप में हम यह भी कह सकते हैं कि जैसा जाना है वैसा होगा। तो उस जानने की अपेक्षा नियत है, पर केवल जानने की अपेक्षा नियत है इतने मात्र से हम नियत अनियत समझ लेते हैं और कारण कार्यविधान की अपेक्षा वे पर्यायें अनियत उत्पन्न होती हैं। यों हम अनियत समझते हैं। तो जरा वचनों का प्रभाव तो देखो- जब हम समस्त पर्यायों को नियत के ढंग से देखते हैं, बात यह मिथ्या नहीं है, चूंकि ज्ञान में जो दृष्ट है होगा उस समय वही, उसमें फेरफार की बात नहीं है, फेरफार भी बीच में होता है तो फेर भी हो, पर वह फेर भी नियत है। तो ज्ञानी पुरुष के द्वारा देखें गये के ढंग से वह पर्याय नियत है।

**नियत व अनियत दृष्टि से देखने का सत्वर प्रभाव—** अब जरा नियतदृष्टि से देखने का प्रभाव देखें कि हम उससे हित क्या पा सकते हैं? नियम है जब जो होना है सो होता है ऐसा सोचकर इसकी दो धारयें बन सकती हैं, एक तो यह बन सकती है कि क्यों विकल्प करते हो? क्यों श्रम करते हो? जो होना होगा सो हो जायेगा। विकल्प न करो। किसी की यह धारा बन सकती है। किन्तु प्रायः होता है क्या कि जब जो होना है वह होता है। श्रम क्यों करें। तो श्रम के मायने अन्तः पौरुष। यहाँ बात गुजर पड़ती है। यह अनियत के ढंग से निहारने पर क्या प्रभाव हो सकता है सो देखिये- चूँकि कारणकार्य विधानपूर्वक यह सब है। देखो अपने भाव बुरे बन गए तो इस तरह की बात बनती है, अच्छे भाव बनेंगे तो इस तरह की बात बनती है और ऐसा भविष्य बनाने के लिए जहाँ पूर्ण निराकुलता और शान्ति हो उसके लिए यह प्रयास करें कि अपने आपके सहजस्वरूप का जो कि सबसे विभक्त है, अपने आपके एकत्व में गत है उस स्वरूप को निरखें, इसका प्रयास करने से भला होगा तो अनियत के ढंग से निहारने वाले को यहाँ यह प्रेरणा मिलती है कि कितना पौरुष संभालें, प्रमाद न करें, प्रमाद करने का फल बुरा है। ऐसे-ऐसे जन्ममरण करके आगे दुःखों को भोगना पड़ेगा तो प्रभाव भी उनका अलग-अलग है।

**विभावपर्याय में अनियतत्व व नियतत्व का अविरोध—** हम कारण कार्य विधान व वैज्ञानिक दृष्टि से देखें। जैसे कि प्रयोग करने वाले लोग चीजों को मिलाकर उनका प्रभाव देखते हैं, अमुक रसायन के मिलाने से क्या बनता है, वे सब विभाव उत्पन्न होने की ही बातें हैं। तो कारण कार्य विधानपूर्वक चूँकि होता है तो वह पर्याय नवीन उत्पन्न होती है। पहिले से कोई पर्याय नवीन उत्पन्न होती है। पहिले से कोई पर्याय पड़ी हुई है या पहिले से स्वभाव में नियत हो, वह पर्याय हुई हो ऐसा नहीं, किन्तु नवीन पर्याय हुई है उस कारणकार्य विधान में। नियत के मायने केवल यह लीजिए कि जब जो होना है सो होता है। भगवान् ने भी देखा। विशिष्ट ज्ञानियों ने भी देखा, इतने मात्र का तो निषेध नहीं किया जा सकता। और यदि यह अर्थ किया जाता कि पदार्थ में स्वभाव से नियत है, क्योंकि अनन्त पर्यायों का वह पिण्ड है और उसमें वे पर्यायें नियत पड़ी हुई हैं तो वह एक स्वभाव से एकान्ततया देखा गया है, अतएव मिथ्या बन जाता है। यद्यपि है ऐसा कि सब विदित है, किन्तु उसमें कारण कार्य का विधान का लोप करके केवल द्रव्य के स्वभाव से ही पर्यायें नियत माना है, इस कारण उसमें विपरीतता आती है। केवलज्ञानी के द्वारा ज्ञान है, सो वैसा उस समय वह होगा ऐसा नियतपना मानने में कोई विरोध की बात नहीं आ सकती है, पर स्वभाव में नियत नहीं है। जैसे स्वभावपरिणमन स्वभावतया नियत है अन्य परिणमन की गुंजाइश कहाँ? आत्मा परमात्मा हो गया, सिद्ध हो गया, उसमें जितने परिणमन होंगे, ज्ञान, दर्शन, आनन्द आदिक सब परिणमन नियत हैं। अन्य प्रकार होगा कहाँ? एक प्रकार हैं, सदृश हैं, वे पर्यायें स्वभाव की ओर से नियत है, किन्तु रागद्वेष, मोह, विषय, कषाय

आदिक परिणमन आत्मा में स्वभाव के रूप से नियत नहीं हैं। चूंकि वे परउपाधि का सन्निधान पाकर उत्पन्न हुई हैं अतः वे अनियत हैं। और वे हुई हैं कारणकार्यविधानपूर्वक।

**पर्याय की नियतता व अनियतता के अविरोध की एक दृष्टि—** अब जरा इस दृष्टि से भी निरखें, पदार्थ वर्तमान में परिपूर्ण हैं, आगे परिणमन होगा, परिणमन बिना पदार्थ न रहेगा, अतएव जितने परिणमन हैं उन परिणमनों का पिण्ड पदार्थ है, यह हमने एक युक्ति से कहा है, लेकिन पदार्थ तो इस समय है, वह पूर्ण है, अब उसमें आगे की बात कुछ नहीं पड़ी हुई है। विज्ञान से प्रयोग से वर्तमान निरीक्षण होता है। पदार्थ परिपूर्ण है। अब जैसा योग्य उपादान है और जैसा अनुकूल निमित्त सन्निधान है उस प्रकार वैसी बात बन गई। विभावपर्याय के सम्बंध में कह रहे हैं तो वह नवीन ही बात हुई। बताया भी गया है कि कथंचित् असत् का उत्पाद किस तरह है? एक वैज्ञानिक दृष्टि में कि उस कारण कार्य विधानपूर्वक वे सब निष्पन्न हुए हैं तो इसको अगर एक वाक्य में कहा जाय तो कारण कार्य विधानपूर्वक उत्पन्न होने वाले अनियत पर्यायों को नियत के ढंग से देखना यह हुआ करता है, तो उस ज्ञानदृष्टि की ओर से नियत है, किन्तु पदार्थ में स्वभावतः कोई गुण ऐसा पड़ा कि जो कुछ विशिष्ट क्रम को नियत कर देने वाला हो। निमित्त पाकर ये विभाव हुआ करते हैं, अतएव वे अनियत हैं। यों नियत और अनियत होने की दृष्टि से जानें और परिणमन को समझते रहें तो उसमें किसी तरह का विरोध नहीं आता।

**स्याद्वादनीति का मर्म—** स्याद्वाद सप्रतिपक्ष धर्म को मानने पर निष्पन्न होता है। एक पदार्थ में अनेक धर्मों को मानने का नाम अनेकान्तपद्धति नहीं है। उसे अनेकान्त तो कहेंगे, मगर अनेकान्त पद्धति स्याद्वाद पद्धति वाला अनेकान्त को कहेंगे एक पदार्थ में अनेक धर्म रह रहे हैं। आत्मा में दर्शन है, ज्ञान है, चारित्र्य है, आनंद है, शक्ति है, यों अनेक धर्म रहते हैं, इस कारण आत्मा अनेकान्तात्मक है। यह बात सत्य है, यह अनेकान्त पद्धति की बात नहीं है। अनेकान्त पद्धति से अनेकान्तात्मक वह कहलाता कि पदार्थ अपने सप्रतिपक्ष धर्मसहित बना हुआ है। यों तो अनेक दार्शनिकों ने अनेक धर्म एक पदार्थ में माने हैं। जैसे प्रकृत में सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण माना है तो क्या वह अनेकान्तात्मक हो गया? इसे कौन नहीं मानता? एक पदार्थ में कितनी ही बातें मानी जाती हैं, लेकिन अनेकान्त पद्धति से अनेकान्तात्मक उसे कहते हैं जो सप्रतिपक्ष धर्मसहित हो। जैसे पर्यायों को ही देखो। पर्यायें नियत हैं तो नियत का प्रतिपक्ष है अनियत, पर्याय अनियत है। यदि प्रतिपक्ष धर्मसहित देखें तो यह अनेकान्तात्मकता बनी। आत्मा है, यहाँ उसको जाना जाता है। मान लो एक प्रदेश के ढंग से जो फैला हुआ है, जो इतने विस्तार में है, इस ढंग से जाना जा रहा तो यह ढंग दो प्रकार में बन जाता है। अभेददृष्टि में हमने आत्मा को एक अखण्ड जाना है। एकक्षेत्री जाना है। तो आत्मा असंख्यातप्रदेशी भी तो है। असंख्यातप्रदेशी के मायने एक-एक करके 10, 20, 50 संख्या, यों बढ़ते-बढ़ते असंख्यात। असंख्यात प्रदेश वाला आत्मा है और असंख्यात प्रदेश जो माने गए हैं उनमें जो एक प्रदेश है वह दूसरा प्रदेश

तो न कहलायेगा? अगर कहलायेगा तो वह असंख्यातप्रदेशी न रहा, एकप्रदेशी हो गया। तो ये 1, 2, 4 आदि प्रदेश भिन्न-भिन्न हुए कि नहीं। अन्यथा असंख्यात नहीं ठहर सकते। तो इस भेददृष्टि में आत्मा असंख्यात प्रदेश वाला है। ये दो सप्रतिपक्ष दृष्ट हो गए। एक दृष्टि ने देखा अभेद दृष्टि से एकक्षेत्र। तो एक दृष्टि ने देखा भेददृष्टि से असंख्यातप्रदेशी। ये दोनों बातें आत्मा में हैं। इस कारण आत्मा अनेकान्तात्मक है। स्याद्वाद नीति इसे कहते हैं। नित्य और अनित्य, पदार्थ देखा गया तो यहाँ स्याद्वाद से पहिचानिये, द्रव्यदृष्टि से नित्य है पर्यायदृष्टि से अनित्य है तो उसे स्याद्वाद नीति से अनेकान्तात्मक कहेंगे। पदार्थ को जहाँ भेदरूप से देखा जाता है उसे पर्याय कहते हैं, अभेद को द्रव्य कहा और भेद को पर्याय कहा और इस नीति से जैसे पदार्थ में उत्पाद और व्यय घटित किया जाता है ध्रौव्य भी घटित करना पर्यायदृष्टि से कहलाता है। उत्पाद व्यय ध्रौव्य- तीन पर्यायें दृष्टि में हैं क्योंकि एक पदार्थ में जो कि अवक्तव्य है, क्रियात्मक है उस अवक्तव्य पदार्थ में समझने समझाने के लिए भेद करके जितनी भी बातें कही जायेंगी वे सब पर्यायदृष्टि में कहलायेगी। यहाँ पर्याय का अर्थ परिणमन नहीं किन्तु भेद है। पर्याय शब्द कितने ही भावों में प्रयुक्त किया जाता है। तो यहाँ भेददृष्टि पर्याय का अर्थ हो गया। भेददृष्टि में ही तो यह परिणमन वाली बात नहीं किन्तु भेददृष्टि वाली बात है। यहाँ प्रसंग में यह कह रहे हैं कि स्याद्वाद अथवा अनेकान्त पद्धति सप्रतिपक्ष धर्म में घटित होती है, और कहा इसे भी अनेकान्त है कि एक आत्मा में ज्ञान, दर्शन, चारित्र, आनन्द आदिक अनेक धर्मों को बताना। मगर यह अनेकान्त शासन वाली बात न रही। अनेकान्त शासनपद्धति से सप्रतिपक्ष धर्म को एक पदार्थ में बताने की बात कही गई है। ऐसा अनेकान्त तो, एक पदार्थ में अनेक धर्म होना तो सभी मानते हैं। जितने भी दार्शनिक हैं, जो भी लौकिक जन हैं, वे मानते हैं कि एक पदार्थ में अनेक गुण हैं। एक पुद्गल में स्पर्श, रस, गंध, वर्ण आदिक बहुत से धर्म हैं, इसे लोग मैटर शब्द से कहते हैं। ये चारों बातें पुद्गल में हैं ऐसा सभी लोग मानते हैं, पर जिस नीति से पदार्थ के स्वरूप का ब्यौरा बताया जाता है वह नीति सप्रतिपक्ष धर्म को सिद्ध करने में मानी गई है।

**वचनन्यास की स्याद्वादमुद्रामुद्रितता—** सर्ववचन स्याद्वादमुद्रा से मुद्रित हैं। इसे यों कह लीजिये कि कोई अगर जबान हिलाये तो वहाँ स्याद्वाद आये बिना नहीं रह सकता। कुछ तो वचनों से कहा जायेगा- जैसे किसी ने कहा कि मैं सच बोलता हूँ तो उसका सप्रतिपक्ष उसमें मौजूद ही है कि मैं झूठ नहीं बोलता। दोनों बातें एक ही बात में गर्भित हैं। अब इनमें से किसे मना करोगे? मैं झूठ नहीं बोलता हूँ, क्या यह बात झूठ है? नहीं। मैं सच बोलता हूँ, क्या यह बात झूठ है? नहीं। बात एक है, पर उस एक को सप्रतिपक्ष धर्म से बताया गया है। कुछ भी आप बात बोलेंगे तो सप्रतिपक्ष जरूर होगा। तो वचनमात्र स्याद्वाद से भरा हुआ है, इसे कहते हैं स्याद्वाद की मुद्रा। पदार्थ, स्वरूप, वचन- ये सभी स्याद्वाद की मुद्रा से मुद्रित है। कोई भी सत्, कोई भी प्रयोग, कुछ भी व्यवहार, कोई भी बात स्याद्वाद की मुद्रा से रहित नहीं है। जो लोग स्याद्वाद का निषेध करते

हैं वे भी स्याद्वाद मुद्रा से मुद्रित हैं। वे अपने को स्याद्वाद नहीं मानते, लेकिन स्याद्वाद मुद्रा टल नहीं सकती। कुछ भी कहो, पदार्थ नित्य है, यह कहा तो आखिर कुछ दृष्टि ही तो उसकी है। नित्य है और नहीं तो इतना तो कहना ही पड़ेगा कि नित्य है, अनित्य नहीं है, यह यद्यपि एक दृष्टि में ही स्याद्वाद की मुद्रा है, लेकिन देखो स्याद्वाद मुद्रा आ ही गई। इसके बिना कोई अपने पक्ष का समर्थन नहीं कर सकता। कोई यदि यह कहे कि मेरी बात प्रामाणिक है तो इसमें यह बात गर्भित है कि मेरी बात अप्रामाणिक नहीं है। वचनमात्र स्याद्वाद मुद्रा से गुम्फित है, फिर उसका विस्तार बनाया तो स्याद्वाद अनेक रूपों को पाकर फैल गया।

**विभाव पर्यायों को नियत व अनियत देखने का उपसंहार—** प्रसंग चल रहा है नियत और अनियत का। जो अनियत हो वह विभाव है। जो विभाव है वह अनियत है। यों विभाव परिणमन होता है और ऐसा होते हुए पर्यायें चूँकि विशेष ज्ञान के द्वारा ज्ञात हैं और वे उस प्रकार कर्मपूर्वक होंगी इस तरह माना तो इस दृष्टि में सर्व नियत बात है यह सम्यक् नियतिवाद है और कारण कार्य विधान रहित अकारण ही द्रव्य में द्रव्य के स्वभाव से क्रम से वे विभावपर्यायें गुम्फित हैं। इस प्रकार अभिव्यक्ति मानना यह मिथ्या नियतिवाद है। जिसको यों कह लीजिये कि कारण कार्य विधान का लोप करके विभावपर्यायों को नियत मानना सो मिथ्या नियतिवाद है और निमित्त सन्निधान मानना, योग्य उपादान मानना और उस प्रसंग में पर्याय का उत्पाद मानना और वह सब विशिष्ट ज्ञानी द्वारा ज्ञान है सो जब जो होना है होता है यों समझना, सो सम्यक् नियतिवाद है। कारण कार्य की अपेक्षा दूर हो जाय और स्वभावतः वे पर्यायें चिपकी रहें, इस तरह की दृष्टि में हित का निःसन्देह अवसर नहीं मिलता। कोई किसी प्रकार वहाँ अवसर ढूँढ़े तो वहाँ सावधानी और संदेह दोनों सिद्ध होते हैं। जहाँ कारण कार्य विधान पूर्वक पर्यायों का उत्पन्न होना माना है वहाँ सावधानी का अवसर अधिक है। दृष्टियों से निर्णय कर लेने में विवाद नहीं है, कर्तव्य तो स्वभावदृष्टि का है। स्वभावदृष्टि हो, उसमें ही उपयोग चलता रहे तो यह बात हम आपके लिए भले की है, उद्देश्य इसी में है और श्रेय इसी में है।

**स्याद्वादनीति से वस्तुधर्मनिर्णय—** स्याद्वाद की नीति में प्रमाण और नय दो पद्धतियाँ चलती है जैसे पदार्थ कथंचित् नित्य है कथंचित् अनित्य है, यह प्रमाण पद्धति से स्याद्वाद नीति का अनुसरण है। कथंचित् नित्य है- इसका अर्थ है पर्यायरूप से अनित्य है, किन्तु जब केवल एक नय की दृष्टि में स्याद्वाद नीति दिखायेंगे तो उसमें निर्णय पड़ा है कि पदार्थ द्रव्यरूप से नित्य है, पदार्थ द्रव्यरूप से अनित्य नहीं है। एक ही नय में एक ही दृष्टि में विधि प्रतिबोध द्वारा निर्णय करना, यह नयपद्धति से स्याद्वाद नीति है और पदार्थ द्रव्यरूप से नित्य है, पर्यायरूप से अनित्य है, यह प्रमाणपद्धति में स्याद्वाद नीति में कथन किया है। इसके अतिरिक्त स्वद्रव्य और परद्रव्य की अपेक्षा भी स्याद्वाद चलता है। जैसे वस्तु अपने चतुष्टय से है पर चतुष्टय से नहीं है इन तीनों ही बातों का कथन किया गया है। एक ही पदार्थ का इस कारण अनेकान्त नीति से

विधान हुआ। जीव अपने चतुष्टय से है, परचतुष्टय से नहीं है तो यह स्वचतुष्टय की अपेक्षा सत्तारूप धर्म जीव में बताया और परचतुष्टय की अपेक्षा से नास्तित्व धर्म भी जीव में ही बताया गया है। प्रमाणपद्धति से वर्णन होने पर भी एक ही पदार्थ का वर्णन होता है। जीव द्रव्यरूप से नित्य कहा गया है तो उस ही जीवपदार्थ को पर्यायरूप से अनित्य कहा है और एक नयदृष्टि में भी निर्णयात्मक ध्वनि है- बोले अथवा न बोले वह तो उस दृष्टि में निर्णीत ही है। जैसे स्यात् नित्यः एव, इसमें जो एवकार दिया है वह निर्णयवाचक है और स्यात् शब्द अपेक्षा वाचक है अर्थात् द्रव्यरूप से जीव नित्य ही है, इस ही का अर्थ अन्य प्रतिषेध है अर्थात् द्रव्यरूप से जीव अनित्य नहीं है।

**स्याद्वादनीति से विभावपर्याय के नियतत्व व अनियतत्व का निर्णय—** अब नियत और अनियत के सम्बन्ध में दो दृष्टियाँ देखिये। विभावपरिणाम का पर्यायवाची शब्द अनियत भाव रखें तो अत्युक्ति नहीं, क्योंकि विभाव की स्वभाव में प्रतिष्ठा नहीं, अनियत भाव भी विभाव ही हुआ करता है। तो जब परिणमन दृष्टि से देखा तो चूँकि विभावपर्याय निमित्त सन्निधान होने पर योग्य उपादान में अपने प्रभाव से प्रभावित होकर बनती है अतएव अनियत है, किन्तु जब इसे इस दृष्टि से देखा कि अनियत भाव भी हुआ, पर कितना भी अनियत भाव हो गया वह सब उस द्रव्य में ही हुआ और विशिष्ट ज्ञानी द्वारा ज्ञात है, तो न हो उस प्रकार तो ज्ञानी द्वारा ज्ञात कैसे हुआ, इस दृष्टि में नियत है तब इस विषय में नय की दृष्टि से यों कहा जायेगा कि भवितव्यता व ज्ञात दृष्टि से स्याद् नियत एव, तो उस दृष्टि में अनियत नहीं है। जब परिणमन विधि की दृष्टि से कहा जायेगा स्यात् अनियत एव तो इस दृष्टि में नियत नहीं है। जब प्रमाणपद्धति से देखेंगे तो दोनों दृष्टियों को अंगीकार किया तब वहाँ बात आयी कि स्यात् नियत एव, स्यात् अनियत एव।

**ज्ञानी के निर्णय का प्रयोजन—** ज्ञानी पुरुष सब तरह से निर्णय करके समस्त ज्ञानों का फल स्वभावदर्शन मानता है। कुछ भी ज्ञान किया जाय अब उसका प्रयोजन क्या है कि हम अपने सहज परमात्मतत्त्व के दर्श में आयें क्योंकि इस जीव ने अब तक सुख शान्ति के अर्थ अनेक काम कर डाले, लेकिन यह एक काम नहीं कर पाया- निज सहज स्वभाव की अनुभूति। उस अनुभूति के लिए यह सब ज्ञान है। ये सब उसके लिए प्रेरणा देते हैं। जब जीव के विभाव अनियत हैं तो प्रेरणा मिलती है कि विभाव की स्वभाव की स्वभाव में प्रतिष्ठा नहीं और ये परभाव हैं, ये छूट सकते हैं, ये तो मेरे स्वभाव है नहीं। उनमें अटकाव न रखेंगे और जब एक द्रव्य को ही निहारकर देख रहे हैं कि यह अनन्त पर्यायों का पुञ्ज है, पुञ्ज क्या है? एक सत् पदार्थ है जो कि अनन्तकाल तक रहेगा। सत् का कभी मूल नाश नहीं होता, वह अनन्तकाल तक रहेगा, पर्यायशून्य न रहेगा तो अनादि अनन्त पर्याय वाला द्रव्य है और उसमें जिस विधिविधान से जो कुछ होने का है वह सर्वज्ञ या विशिष्ट ज्ञानी द्वारा ज्ञात है। होना है, होगा, हम अपने स्वभावदर्शन जैसे विशिष्ट कार्य में लगे, अन्य विकल्प न करें। ज्ञानी पुरुष अपना स्वार्थ नहीं खोता है, निज

का जो प्रयोजन है उस प्रयोजन का भङ्ग नहीं करता। जिस प्रकार भी हो वह स्वभावदर्शन में पहुँचेगा। हर चर्या में निश्चयनय का वर्णन हो तब, फल पायेगा वह स्वभावदर्शन के लिए प्रेरणा का और तो क्या? जो उपचारनय है उसके मर्म से भी अन्तस्तत्त्व की ओर आने की प्रेरणा लेता है तो भिन्न पदार्थ जिनका कि सम्बन्ध मात्र से कुछ का कुछ कह दिया जाय, जैसे कहते हैं ना कि घी का घड़ा, तो कोई कहता है मेरा मकान तो घी का घड़ा कहा या मेरा मकान कहा, इसमें कोई समता से अन्तर है क्या? जैसे घड़ा घड़े का है, मिट्टी का है, घी का नहीं है, पर एक उसमें घी रहता है इस कारण कहते हैं घी का घड़ा, यह उपचार है, इसी प्रकार मकान मकान में है, मकान मेरे में नहीं है। मकान में एक बाह्य क्षेत्र की अपेक्षा रहते हैं इतने मात्र से कहना कि मेरा मकान है तो यह उपचार है। तो उपचार की उपचारता का जब हम स्मरण करते हैं- यह उपचार है, है तो नहीं, मगर इतने सम्बन्ध से कहा गया है तो उससे भी हमें कुछ प्रेरणा मिली ना कि है तो नहीं। एक सम्बन्ध से कहा है और वह सम्बन्ध भी अनित्य है, झूठ है, काल्पनिक है। तो कुछ भी बात कही जाय, ज्ञानी को है अन्तस्तत्त्व की रुचि, अतएव वह सब प्रकरणों से सब ज्ञानों से सब दृष्टियों से चलकर भी, निर्णय करके भी, अपने स्व अर्थ को नहीं भूलता।

**शरणभूत अन्तस्तत्त्व की ओर आने के यत्न का कर्तव्य—** हमें चाहिये यह कि किसी भांति कुछ अन्तर्यत्न हो सहज स्वभाव का अनुभव हो जाय, प्रभु की पूजा भी, दर्शन भी, ध्यान भी किसलिए है कि नाथ आपके उस सहज परमात्मतत्त्व की स्थिति को निरखकर मैं अपने आपमें उस परमात्मतत्त्व के दर्शन में लगूँ, यही तो परमात्मदर्शन का प्रयोजन है। तो हमें चाहिये यह कि परमात्मतत्त्व जो अन्तःप्रकाशमान है, आज कषायसमूह के कारण तिरोभूत हो रहा है और स्वयं अन्तःप्रयत्न नहीं करते, इस कारण अथवा जो प्रयत्न करते हैं, आत्मज्ञ हैं उनकी उपासना नहीं करते इस कारण हम उस लाभ से वंचित रह जाते हैं। हम हर प्रकार हर सम्भव उपायों से अपने आपके उस सहज स्वरूप में रमें, आये, जानें, देखें, यहाँ बाहर में कहीं कुछ सार नहीं। किसी की बंधुता, किसकी पक्ष, किसका विकल्प, किसकी इज्जत। क्या कहाँ है? मेरे लिए कहीं कुछ नहीं है। बार में जब दृष्टि डालते हैं तो ऐसा दिखता है कि बाहर तो कहीं कुछ शरण नहीं और माना बाहर में कुछ लगाव तो यह विवश हो जाता। क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? जैसे कोई हिरण का बच्चा किसी ऐसे जंगल में फंस गया कि जिसके पीछे सैकड़ों शिकारी धनुषबाण लिए हुए मारने को दौड़ रहे हैं। वह बेचारा हिरण का बच्चा आगे भागा तो क्या देखता है कि सामने बड़ी तेज नदी बह रही है और अगल-बगल के जंगलों में बड़ी तेजी से आग लगी है, अब वह हिरण का बच्चा घबड़ाता है, सोचता है- हाय अब मैं क्या करूँ, कहाँ जाऊँ? ऐसे ही बाहर में जिन्होंने दृष्टि लगायी है, बाहर में अपना कुछ शरण माना है उनको ऐसे विलाप का अवसर प्रतिक्षण आता रहता है।



**शरण तत्त्व और धर्मपालन**— हमारा शरणतत्त्व अपने ही अन्तः विराजमान है। नमस्कारमंत्र के बाद जब चत्वारिदण्डक पाठ बोलते हैं तो वहाँ चार मंगलो का स्मरण है। चार लोकोत्तमों का स्मरण और चार शरणों की भावना की गई है। अरहंत, सिद्ध, साधु और धर्म। प्रथम अरहंत का स्मरण किया है क्योंकि उनके प्रसाद से यह समस्त तत्त्वज्ञान की धारा बह रही है। यद्यपि सिद्ध प्रभु की अवस्था अरहंत अवस्था के अनन्तर की है और उस दृष्टि से उत्कृष्ट अवस्था है कि जहाँ मल भी नहीं रहा, शरीरमल का सम्बन्ध नहीं रहा, फिर भी सिद्ध का पता अरहंत की देशना की परम्परा से जो आज हमें मिला है उससे ही समझा है। अरहंत मंगल हैं, सिद्ध मंगल हैं, ये तो हैं दो परमात्मा, इनका सत्सङ्ग कहाँ है? रोज काम में आये, जिनके सत्संग में रहें ऐसे मंगल हैं, साधु फिर भी ये तीन बाह्य हैं, बाह्यशरण हैं, इनकी उपासना यदि हम अपने अन्तः शरण की दृष्टि सहित करेंगे तो ये बाह्यशरण हो जायेंगे अन्यथा बाह्यशरण भी नहीं हो सकते। तब की धर्म भावना की गई है। उस धर्म की शरण को प्राप्त होता हूँ। धर्म मंगल है, लोकोत्तम है, वह धर्म क्या है। तो बताया है केवली भगवान् के द्वारा कहा गया। क्या कहा गया। धर्म है निरखने की चीज। वस्तुतः धर्म करने की बात नहीं, निरखने की बात है। वत्सुहावो धम्मो, आत्मा का स्वभाव धर्म है, आत्मा का स्वभाव है चैतन्यभाव। उस चैतन्यभाव को क्या कोई करता है, उसे निरखना है तो धर्म है चैतन्यभाव और धर्मपालन है चैतन्यभाव का आलम्बन। धर्म नहीं किया जाता, धर्म का पालन किया जायेगा, धर्म की दृष्टि की जायेगी, धर्म का आश्रय किया जायेगा। धर्म किए जाने की बात नहीं है, क्योंकि धर्म है स्वभाव का नाम और अब आगे चलते जायें- स्वभाव का आलम्बन कैसे हो। तो उसके अर्थ और और भी उपाय किए जाते हैं- तत्त्वज्ञान करना, प्रभु पूजा करना, ध्यान करना, चर्चा करना, पढ़ना लिखना। उस धर्मपालन की दृष्टि से जो-जो भी कार्य किये जाते हैं वे सब हमारे व्यवहार भी व्यवहारधर्म हैं।

**श्रावक के षट्कर्म और उनमें धर्मपालन की नीति**—देखिये— श्रावक का कर्तव्य है षट्कर्म देवपूजा, गुरुपास्ति, स्वाध्याय, संयम, तप और दान- इन 6 कार्यों का सम्बंध दर्शन, ज्ञान चारित्र से हो तब तो समझिये कि हम धर्मपालन कर रहे हैं। देवपूजा में हमारी श्रद्धा बढ़ती है, श्रद्धा मूल में हो तो देवपूजा बनती है। वहाँ श्रद्धा का सम्बन्ध है, दर्शन का सम्बन्ध है। गुरुपास्ति में चारित्र का सम्बन्ध है विरक्त तत्त्वज्ञानी गुरुजनों की उपासना का भाव उसी के तो होता है और उपासना की वृत्ति वही तो कर सकेगा जिसको उस प्रकार के चारित्र की रुचि है। अपना अंतः संयम भी वह चाहता है जिसके अर्थ बाह्यसंयम निभाना है। तो गुरुपास्ति में चारित्र का सम्बन्ध है, स्वाध्याय में ज्ञान का सम्बन्ध है। स्वाध्याय किया जाय, अगर एक चर्चा बात यह मिले, यहाँ यह लिखा, अमुक कोयों उत्तर दिया जायेगा, अमुक जगह यह बताया जायेगा, बाहर-बाहर ही डोलना बना रहे तो वह स्व का अध्याय नहीं हुआ, जो कुछ हम अध्ययन करते हैं सबको निज पर घटित करते हुए चलें, यह पद्धति है स्वाध्याय की। प्रथमानुयोग के ग्रन्थों में जिन महापुरुषों का चरित्र पढ़ा

उसको पढ़कर स्वयं पर घटित करना चाहिए। हम क्या हैं, कैसे हैं? ऐसे-ऐसे महापुरुषों ने यह किया है, यह हमारा कर्तव्य है। पाप का फल जहाँ चरित्र में आया हो उसे अपने आप पर घटित करें। पुण्यफल जहाँ चरित्र में आया हो तो आखिर यही तो देखा कि बड़ा पुण्य था। श्रीराम बड़े पुण्यशाली थे उस पुण्यफल में उन्होंने पाया क्या? पुण्यफल में पाया तो एक दृष्टि में देखें तो जीवन भर विडम्बना। जन्मे तब क्या, स्वयंवर हुआ तब क्या, बाद में क्या, राज्याभिषेक में क्या? जो जीवन चरित्र है, किसी भी पुण्यवान् का जीवन पढ़ लो, पुण्य के फल उसमें देखने को मिलेंगे क्या? न भी विपदायें रही हों, वे मौज से रहे हों तब भी आखिरी फल मिला क्या? सब कुछ छोड़ा और उससे मुख मोड़कर आत्मतत्त्व की उपासना की। यही उनका महत्त्व था। पुण्यवानों की प्रशंसा क्यों है कि पुण्यफल को त्यागकर अपने निज परमात्मतत्त्व की उपासना में लगे तब तो उनकी कीर्ति गायी जा रही है। और जिसने यह नहीं किया और पुण्यफल भोगा उनका पुराणों में कोई महत्त्व नहीं दिखता है। तो हम कथानक पढ़ें उनको भी अपने ऊपर घटित करते हुए पढ़ें। करणानुयोग के शास्त्रों में जहाँ-जहाँ ऐसे सूक्ष्म तत्त्वों का वर्णन, समय-समय आवली-आवली में क्या अन्त होता है, क्या भाव होता है, क्या कर्मदशा होती है, जब उन वर्णनों को पढ़ें, सुनें तो उसमें एक आस्था जगती है और अपने आपमें उन वीतराग संतों के प्रति जिनका इतना विशुद्ध निर्मल ज्ञान है कि ऐसा निर्विरोध और सयुक्तिक, प्रामाणिक कथन किया गया है, श्रद्धा बढ़ती है, भक्ति बढ़ती है, चरणानुयोग के शास्त्र पढ़ें तो प्रत्येक परिस्थितियों में हम अपने आपका अध्ययन बनायें, अपनी कमी देखें, क्रिया का उद्देश्य निरखें, उनकी ओर बढ़ने का कदम बढ़ायें। द्रव्यानुयोग के शास्त्र में दो विभाग हैं- दार्शनिक शास्त्र और अध्यात्म शास्त्र। द्रव्यस्वरूप का वर्णन दोनों करते हैं पर पद्धति निराली है। दार्शनिक शास्त्र के अध्ययन से अध्यात्म शास्त्र की समझ में स्पष्टता आती है और अध्यात्म शास्त्र समझा हो तो उस पद्धति से दार्शनिक शास्त्रों में जो तत्त्वनिर्णय किया है उस तत्त्वनिर्णय से आत्मा में एक विशिष्ट अनुभूति जगती है। इतना विशाल वर्णन दार्शनिक शास्त्र का है।

**दार्शनिकों की दृष्टि की खोज और उस दृष्टि में दर्शन का समन्वय—** वस्तुस्वरूप क्या है? अन्य-अन्य दार्शनिकों ने क्या माना है? एक बात मोटेरूप में यह सोच लें कि जो भी विद्वान् हुए हैं उन्होंने जो कुछ भी कहा है उस कथन को एकदम ही विपरीत न सोच लें, किन्तु उनके कथन को उनकी दृष्टि से मिलाकर पहिले समझें और समझकर फिर यह जानें कि ऐसी दृष्टि बनने पर यह दर्शन उत्पन्न होता है, और इस निगाह में यह बात ठीक है। अगर नयों की विधियों से उन वस्तुस्वरूपों का वर्णन करने वाले दार्शनिकों की बात देखें तो सबमें औचित्य मालूम होता है। उस दृष्टि से कौनसा वर्णन है? मजहब और मत की बात नहीं कह रहे। कुछ दार्शनिकता की बात कह रहे हैं। जिसने यह माना है कि प्रकृति करती है और जीव फल भोगता है उस सम्बन्ध में अब दृष्टि लायें कि उनकी ऐसी क्या दृष्टि बनी कि जिसमें यह जँचा कि करने वाला जीव नहीं, करने वाली प्रकृति है और भोगने वाला जीव है तो एकदम यह बात समझ में आती है कि भोगने वाला

प्रकृति है, यह बात नहीं कही जा सकती, क्योंकि अचेतन है। अचेतन में भोगने की बात क्या? लेकिन करने की बात यों कही गई प्रकृति को कि जीव स्वयं अपने स्वभावरूप है। वह अपने आपमें नानारूप परिणमे, इसके लिए स्वयं स्वतः समर्थ नहीं है अर्थात् प्रकृति का सम्बन्ध वहाँ रागद्वेष आदिकभावों को उत्पन्न करता है, एक दृष्टि ही तो बनी, और बात दूर जाने दो। जो लोग यह कहते हैं कि यह सब ईश्वर की लीला है, सारी सृष्टि ईश्वर की है, सदामुक्त महेश्वर की है। महेश्वर होता है आनन्दमग्न। महेश्वर को माना है सदामुक्त और और जीव जो मुक्त हुए हैं वे सादि मुक्त हैं। उनको तो वह महेश कभी पटक देता है कल्पकाल के बाद, ऐसी उनकी मान्यता है, तो वहाँ भी क्या दृष्टि लगी कि यह जो एक सहज परमात्मतत्त्व है यही मकान ईश है और यह सदामुक्त है, इसमें किसी प्रकार का विकार नहीं है, स्वरूप दृष्टि से देखो तो वह सदामुक्त है और यह सब लीला उसकी है, इसका अर्थ है कि उस ही का तो सम्बन्ध माना है कि ये सब बन उठीं। जो काठ पत्थर भी नजर आ रहे, ये भी तो पहिले स्थावर काय थे, वहाँ भी जीव का सम्बन्ध था, तो सबमें महेश की लीला है और और बातें भी जो कुछ वस्तुस्वरूप का दिग्दर्शन कराने वालों ने कहीं हैं, हम अगर उनकी दृष्टि को और परखें कि आखिर क्या उनका मूड हुआ होगा। जिससे ऐसा नजर आया, तो आपको वहाँ भी बात समन्वय की मिल जायेगी। सब तरह से पदार्थ निर्णय करके करने का काम केवल एक यह है कि हम अपने सहज परमात्मतत्त्व के स्वरूप की ओर उपयोग करें और सर्व उपाधियों से मुक्त होने का अवसर पायें।

**हेय उपादेय समझने के व्यवहार निश्चयनय व स्वात्मानुभूति का विश्लेषण—** कौनसा आशय हेय है और कौनसा आशय उपादेय है? इस विषय को समझने के लिए थोड़ा विश्लेषण पर आयेँ और यहाँ इस रहस्य को जानने के लिए उसे 5 विभागों में समझें। उपचारितोपचार, उपचार, व्यवहारनय, निश्चयनय और स्वात्मानुभूति। इस प्रसंग में चूँकि हेय उपादेय की चर्चा चल रही है तो निश्चयनय को अभेददृष्टि कहेंगे और उपचार दो पदार्थों के सम्बन्ध की दृष्टि करके एक में दूसरे का आरोप करना कहायेगा और उपचारितोपचार एक जबरदस्ती का सम्बन्ध बनाने की दृष्टि कहायेगी। जब हम आत्मतत्त्व का परिज्ञान करना चाहते हैं, अपने आत्मा का कल्याण लाभ लेना चाहते हैं तो यह आवश्यक है कि हम अपने आत्मा की जानकारी बनाये। अब आत्मा यथार्थरूपतया सहज अपने आप स्वयं कैसा है, इस बात को जब समझने के लिए चलेंगे तो कुछ ढंग कितने ही बनाये जायें, समझ बनेगी, वह समझ तब बन पायेगी जब अभेदरूप आत्मतत्त्व के ज्ञान में आयें। जिसे हम किन्हीं बातों से न समझा सकेंगे, क्योंकि जितने भी वचन हैं वे सब विशेषण रूप होते हैं। यद्यपि लोकव्यवहार में उन्हीं शब्दों में कोई शब्द विशेष्य माना गया है, कोई विशेषण माना गया है, लेकिन वचन जो कुछ भी होंगे वे सब विशेषण होंगे, विशेष्य नहीं होते। जैसे चौकी कहा तो लगता है कि यह तो विशेष्य है। यह कहा कि चौकी पीली है तो पीला विशेषण है और चौकी भी विशेषण है। चौकी कहते किसे हैं? जिसमें

चार कोने हो वह चौकी है। यह चौकी है, यहाँ यह शब्द कहकर जो निर्दिष्ट हुआ है विशेष्य, चौकी हुआ विशेषण। यह पदार्थ बस यह शब्द से जो भी वाक्य हो सकता है वह अभेद रूप में दृष्ट हो सकता है, पर उसमें कोई शब्द बोला तो विशेषण बन गया। चौकी है, मायने चार कोने वाली है। जितने भी शब्द हैं वे सब अपने धात्वर्थ को लिए हुए हैं, इस कारण विशेषण ही कहलायेगा। कोईसा भी शब्द बोल लें उसमें अर्थ भरा अर्थ हुआ है। चटाई— चट आई, कोना पकड़ा और झट आ गई। लो विशेषण हो गया। घट, जो घटित किया जाय, घड़ा जाय जो घटा विशेषण बन गया। प्रयोजन यह है कि हम वचनों से जो कुछ भी समझ सकेंगे विशेषण में बात समझेंगे, फिर भी हमको अपने ज्ञान द्वारा उन विशेषणों से ही किसी विशेष्य का परिज्ञान कर लेना चाहिए। व्यवहारनय और निश्चयनय के सम्बन्ध की इतनी बात है। निश्चयनय से जाना अभेदरूप वस्तु और उसे समझा व्यवहारनय के उपाय से इस प्रसंग में शुद्ध निश्चयनय, अशुद्ध निश्चयनय की चर्चा नहीं करना है। यहाँ हेय और उपादेय की दृष्टि से तका जा रहा है। तो इस निश्चयनय को हम एक रूप में देख रहे। यदि निश्चयनय के भेद करेंगे तो उसकी चर्चा एक पृथक् हो जायेगी। अभेदरूप वस्तु को परखने वाला नय निश्चयनय है। अब कोई सोचे कि निश्चय नय में क्या समझा, हम क्या बतायें? जब बताने चलेंगे तो व्यवहारनय का आश्रय लेना ही पड़ेगा। व्यवहारनय का आलम्बन लिए बिना निश्चयनय में क्या समझा, यह नहीं बता सकते। जैसे आत्मा के सम्बन्ध में कहना जिसमें ज्ञान ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, जो जानता है, देखता है, रमता है, जिसमें चैतन्यभाव है, कुछ भी कहते जावो, व्यवहरण व्यवहार, भेद करने का नाम व्यवहार है, अब इस ढंग में जो यह जाना गया क्या आत्मा में यों ज्ञान दर्शन चारित्र के भेद पड़े हुए हैं? निश्चयनय बताता है कि भेद नहीं पड़े तो क्या इस भेद के जाने बिना हम उस अभेद को जान सकेंगे? न जान सकेंगे। तरीका ही अन्य कुछ नहीं है। तब आप जानियेगा कि निश्चयनय अभेदरूप विषय को ग्रहण करता है, व्यवहारनय भेदरूप विषय को ग्रहण करता है, इस प्रसंग में अभी एक वस्तु में ही भेद करने की बात कही गई है।

**उपचार और व्यवहार की पद्धति का अन्तर—** अब जरा उपचार पर आये तो वहाँ दो पदार्थों की बात लग जाती है। जैसे प्रसिद्ध दृष्टान्त है कि घी का घड़ा कहना उपचार से है क्यों उपचार से है? तो वह मिट्टी से घी है। पृथक् वस्तु और पृथक् वस्तु का सम्बन्ध होकर यह कहा गया है घी का घड़ा तो ऐसा कहने में जो यह जाना जा रहा कि 'घी का' तो यह उसका उपचार है। इसी बात को यदि यों समझायें कि देखो भाई, यह घड़ा इस घड़ा स्वरूप में है, इसमें घी का सम्बन्ध है। घी का आधेय है, इतने मात्र सम्बन्ध से इसको घी का घड़ा कहा जा रहा है तो यह उपचार की बात नहीं हुई। व्यवहार हुआ, व्यवहरण किया गया, भेदीकरण किया गया, विश्लेषण किया गया, इसी प्रकार जहाँ यह कथन कोई करे कि कर्म ने रागद्वेष किया, यह कथन उपचार है। दो पदार्थों का कर्ताकर्मरूप से सम्बन्ध बताया, जो कि भिन्न-भिन्न है। किन्तु यह बताया जाय कि

कर्मोदय का निमित्त मात्र पाकर यह योग्य उपादान अपने में अपनी कला से विभावरूप प्रभाव से प्रभावित हो गया है तो यह विशेषण हो गया, यहाँ उपचार की बात नहीं है। उपचार होता है एक में दूसरे का आरोप करना। यहाँ आरोप नहीं है किन्तु विश्लेषण है। उपचारोपचार क्या है कि जिसमें निमित्त-नैमित्तिक आदिक कोई सम्बन्ध भी नहीं है और फिर भी मोहवश, कल्पनावश किसी भी कारण से उनका सम्बन्ध मानना यह उपचारोपचार है। जैसे मकान मेरा है, धन मेरा है, वैभव मेरा है, दुकान मेरी है, तो उपचारोपचार की तो बात ही नहीं करनी है। उपचार की जैसे कोई उस घड़े को घी का घड़ा माने तो वह मिथ्या है। इस प्रकार यदि कोई रागादिक का है कि बात यह कर्ता कर्म को माने तो वह मिथ्या है, क्योंकि एक वस्तु का दूसरी वस्तु में, द्रव्य, क्षेत्र, काल भाव का प्रवेश नहीं है। कर्तृत्व यदि व्यवहार दृष्टि के कर्तृत्व जितना अर्थ हो वह बात अलग है किन्तु कर्म ने रागद्वेष किया। यहाँ जो कर्म का कर्तृत्व माना गया रागद्वेष में वह उपचार है, इसी प्रकार जीव ने कर्म बांधा, यों दो द्रव्यों में कर्तृकर्मत्व की बात कहना उपचार है, मिथ्या है, पर निमित्तनैमित्तिक सम्बन्ध की बात कहना यह एक विश्लेषण है, व्यवहार है, भेद करके कथन है और जब हम इससे और ऊँचे व्यवहार पर चलते हैं तो वहाँ केवल एक ही वस्तु में गुणपर्याय द्रव्यादिक का भेद करके व्यवहारण की बात कहते हैं, पर निश्चयनय में एक अभेद वस्तु प्रतीत होती है। यहाँ तक सब पक्ष रहे। निश्चय नय भी पक्ष है, व्यवहारनय भी पक्ष है, अन्य सब भी पक्ष हैं। जहाँ तक विकल्प हों वहाँ तक पक्ष है।

**स्वात्मानुभूति की परम उपादेयता—** अब तक अंतिम चीज कहने को या करने को रह गई स्वात्मानुभूति। अपने आपके सहज स्वभाव की अनुभूति, चैतन्यस्वभाव हमारे ज्ञानोपयोग में आये ऐसी स्थिति। अब यह निर्णय करिये कि वास्तव में क्या है? पूर्णतया जो उपादेय कहा जा सके वह है स्वात्मानुभूति। सब कुछ स्वात्मानुभूति के लिए है। इसके बाद अब और क्या प्रयोजन रहा सो इसके आगे प्रयोजन न मालूम होगा। तब व्यवहारनय के पक्ष से और निश्चयनय के पक्ष से अतिक्रान्त होकर ज्ञानी पुरुष इस तत्त्व का वेदन करता है, स्वात्मानुभवन करता है। अब इस दिशा में स्वात्मानुभूति उपादेय है निश्चयनयपक्ष, व्यवहारनयपक्ष, समस्त नयपक्ष हेय हैं। अब चलो निश्चयनय पर, स्वात्मानुभूति की पात्रता बनाने वाले और निकट पहुँचाने वाले इस अभेद वस्तु का परिचय कराने वाले निश्चयनय के सहारे का कितना उपकार मानें जिसके अनन्तर जिसके प्रसाद से स्वात्मानुभूति में उपयोग सहज आ जाता है। तो हमें जानकर कोई आशय बनाना है, कुछ बात समझना है बुद्धिपूर्वक तो वहाँ ऐसा उपादेय क्या है कि जिसके आगे बुद्धिपूर्वक उपादेयपने की बात हम और किसी को न कह सकें। वह है उपादेय निश्चय नय। अब इस उपादेय के सामने व्यवहारनय हेय है।

**निश्चयनय के विषय पर पहुँचाने के लिये व्यवहारनय की उपयोगिता—** अब व्यवहारनय पर चलें— निश्चयनय में हमने क्या समझा? वह समझ हमें व्यवहारनय के सहारे से मिली है। हम कथन करते हैं, समझते हैं व्यवहारनय से तो ऐसा उपकारी जीव जो उपकार करे और खुद मरे उसकी उपकारशीलता को भी

ध्यान में रखिये— व्यवहार में ऐसी उपचारशीलता है कि यह निश्चयनय के विषय को समझाता है और खुद मर जाता है। तो जो निश्चयनय के विषयभूत तत्त्व से अपरिचित हैं, अपरम भाव में स्थित हैं, झंझट, उलझन, विकल्प आदिक में हैं उनके लिए उपादेय यह व्यवहारनय रहा, निश्चयनय की वहाँ खबर ही नहीं। कहाँ कौन आशय उपकारी है और कहाँ किसका आलम्बन, आश्रय इस जीव को हित की धारा में लगा सकता है, ऐसा ही परखकर आचार्यों ने भिन्न-भिन्न पात्रों के लिए भिन्न-भिन्न ढंग से उपदेश किया है। इसी कारण वह उपदेश सर्वप्रकार से परिपूर्ण हो, ऐसी बात नहीं कहीं जा रही। जैसे वर्द्धमान प्रभु के पूर्वभवों में बहुत पहिले भवों में वह आत्मा कोई भील की पर्याय में था। एक बार शिकार खेलता हुआ वह एक मुनि को पशु सा जानकर तीर मारने लगा, जब भीलनी ने कहा कि ये तो कोई महापुरुष से दिख रहे हैं, तीर अलग करो और चलो इस संत के पास। भील भीलनी गये, उपदेश भी सुना। मांस त्याग के सम्बन्ध में भील ने असमर्थता दिखाई, वहाँ भील ने सिर्फ कौवा के मांस के त्याग की बात कही व प्रतिज्ञा ली। भील ने प्राण जाने के अवसर में भी उस प्रतिज्ञा को न त्यागा और उस धारा में आगे चलकर आगे बढ़-बढ़कर अनेक भवों के बाद फिर तो उस जीव ने एक परमात्मदशा प्राप्त की। तो जहाँ स्थितियाँ विभिन्न होती है, वहाँ हमें समझना है तो यहाँ यह निर्णय करना कि व्यवहारनय भी प्रयोजनवान है, निश्चयनय भी प्रयोजनवान है और परम प्रयोजन तो हमारी स्वात्मानुभूति है।

**अन्य विविध निर्णयों की अभेदस्वभाव अन्तस्तत्त्व के परिचय के लिये उपयोगिता—** स्वात्मानुभूति का जो हम प्रयत्न बनायेंगे वह प्रयत्न होगा अभेद भाव का परिज्ञान। अब आप सोचिये कि निश्चयनय के आशय का कितना उपकार है? हम जब आत्मा के सम्बन्ध में निर्णय करने चलते हैं तो निर्णय बहुत से हैं। यह आत्मा इतना लम्बा चौड़ा फैला हुआ— शरीर को नाप करके बताना कि यह 5 फिट का लम्बा है तो क्या आत्मा उस समय 5 फिट लम्बा नहीं है? है। और उस आकार में हम जानने की कोशिश भी कर रहे हैं। आत्मा असंख्यातप्रदेशी है, इतना लम्बा चौड़ा है, यह भी तो आत्मा के जानने का उपाय है। मगर इस ज्ञान के अनन्तर स्वात्मानुभूति कहाँ मिली? बस देखता रहा, तकता रहा। जब आत्मा की पर्यायों की चर्चा करते हैं। यह आत्मा क्रोधी है, मानी है, शान्त है, विभावी है, परभावी है, जब हम आत्मा की परिणति की चर्चा करते हैं। करते जायें चर्चा। उस परिणति की चर्चा के अनन्तर ही स्वात्मानुभूति कहाँ मिली? परिज्ञान अवश्य है, जानकारी जरूर की गई। अब जरा भावों पर दृष्टि दें तो भावों की परख होगी दो प्रकार से— भेदरूप और अभेदरूप। भेदरूप भाव की परख में हम यह समझते हैं कि हममें ज्ञानगुण, दर्शनगुण, चारित्रगुण, आनन्दगुण आदिक अनेक शक्तियाँ हैं। गुणों का परिचय किया, शक्ति की अनेकता जानी, एक-एक शक्ति का स्वरूप भी समझा, पर इस भेदरूप ज्ञान की चर्चा में आत्मानुभूति कहाँ आयी?

अभेदस्वभावरूप में आत्मोपासना होने पर स्वात्मानुभूति का नैकट्य— अब जरा अभेदरूप के प्रभाव में बात देखिये— सर्वप्रकार से जाने हुए उस आत्मा को जब हम एक अभेदस्वभाव के रूप में निरखते हैं, जैसे कि भोजन की निरख भेदभाव से भी कोई करता है अभेद भाव से भी कोई करता है। जो भोजन खाया जा रहा है- इसमें इतना घी है, इतनी शक्कर है, इतना सिका है, ऐसा बना है, यों भेदभाव से भोजन की बात जानी जायेगी और एक केवल खाने का ही उद्देश्य और उसके ही आनन्द की दिशा में उस भोजन का अनुभव कर रहा है वहाँ उसकी चर्चा कुछ भी नहीं है तो वह उसे एक अभेदरूप से रस रहा है, आनन्द ले रहा है। एक मोटे रूप से बात कही जा रही है। तो आत्मा में ज्ञान है, दर्शन है, चारित्र है, गुण हैं आदिक बातों से जो हमने परखा, जाना, ये तो सहारे हुए ना, इन इन बातों से ले गए हम वहाँ, जो वास्तविक आत्मस्वरूप है, उसे जो समझा तो क्या समझा, क्या जाना उस दृष्टि में बस जो जाना सो जाना। गाओ जो सो उ सो चेवा। अन्य कुछ कहने की बात मत कहो। रस में विरसता मत डालो। जो ज्ञात है वह तो वही है, उसे अभेद स्वरूप में जानें। यों जब हम इस सब निर्णय के प्रसाद से क्योंकि बड़े-बड़े तत्त्वज्ञानियों का यही आलम्बन पहिले था जिससे समझ-समझकर बढ़-बढ़कर चढ़-चढ़कर अभेदभाव में पहुँचे और वह निर्विकल्प अनुभूति में पहुँचे। तो जब हम व्यवहारनय से सब कुछ परख-परखकर निश्चयनय में विषय को हम बना सकें, उस अभेदस्वरूप का परिज्ञान कर सकें तो बहुत कुछ इस दिशा में अन्तः यत्न करके स्वयं अनुभव कर लेंगे कि यह उपयोग हमें स्वात्मानुभूति में ले जाने वाला हो जाता, पर स्वात्मानुभूति के समय निश्चयपक्ष नहीं है, व्यवहारपक्ष की बात तो दूर ही रही, यों सकलनयपक्ष से अतिक्रान्त होकर यह ज्ञानी अपने आपमें इस सहज अन्तस्तत्त्व का अनुभवन करता है।

स्वात्मानुभूति की उपादेयता के उद्देश्य को बना लेने की शिक्षा— उक्त बातों से हमें अपने आपके लिए इस उद्देश्य पर तुल जाना चाहिए कि हमारे लिए सार केवल यह सहज स्वभाव की अनुभूति है, वह प्राप्त करनी है। उस आशय से लें तो जो भी यत्न आपके बनेंगे वे सब आपके यत्न अनुरूप यथार्थ ढंग से बनेंगे। उद्देश्य अगर हम सही न कर सके तो हम भूले रहेंगे, विकल्प में रहेंगे और यदि उद्देश्य सही बना सके तो फिर आप मंदिर जाइये, जाप कीजिए, स्वाध्याय कीजिए, सत्संग में बैठिये और नहीं तो किसी महापुरुष को केवल निहारते ही रहें, जो कुछ भी आपसे बन पड़ेगा वह सब आपकी अनुरूपतायें होंगी, क्योंकि उद्देश्य सही बन गया है, जिसने उद्देश्य सही नहीं बनाया वह अनेक यत्न करके भी इष्टसिद्धि नहीं कर पाता, जैसे कि कोई नाव खेने वाला पुरुष केवल नाव खेने का ही काम करे, किसी जगह पहुँचने का जिसने कोई उद्देश्य ही नहीं बनाया है, तो वह कभी पूरब की ओर नाव खेवेगा, कभी पश्चिम की ओर, कभी उत्तर व कभी दक्षिण की ओर। यों वह मझधार में ही पड़ा रहेगा, किसी किनारे नहीं लग सकता, ठीक इसी प्रकार जिसने अपने जीवन का सही उद्देश्य नहीं बनाया है कि हमें केवल यही काम करना है, वह तो यत्र-तत्र ही डोलता रहेगा

और दुःखी होता रहेगा। साधना के पथ में बढने का यही ढंग है और व्यवहारनय की, निश्चयनय की उपयोगितायें किस प्रकार से हैं, यह बात यहाँ समझ ली गई होगी। और आखिर हमारा उद्देश्य क्या है? यह भी जान लिया होगा। तब निर्णय करें। पूर्णतया उपादेय की बात केवल एक वह स्वात्मानुभूति है, इसके लिए हम क्या करें? जो सब दिशाओं में प्रयत्न करते हैं इन प्रयत्नों से, इन पक्षों से अतिक्रान्त होकर हम अपने उस विशुद्ध निर्विकल्प स्वात्मानुभूति का अनुभव करें।

**सहजपरमात्मतत्त्व के मिलन की अलौकिक प्रसन्नता—** बड़े वैभवों को त्यागकर निर्जन स्थानों में रहने वाले योगी किस बल पर प्रसन्नता से बने रहते हैं? यह बल है सहज परमात्मतत्त्व की दृष्टि का। यदि निरन्तर प्रसन्न हो सकने की बात उनके न हो सकती होती तो उनका रहना बन ही न सकता था। एक मिनट भी समय कटना कठिन होता है जबकि चित्त में प्रसन्नता नहीं होती। योगिजनों की प्रसन्नता ऐसी स्वाधीन है कि जिसमें किसी प्रकार की बाधा नहीं आ सकती। उपसर्ग के समय भी जहाँ परकृत बाधा नहीं। जिसका पूर्ण निर्णय है कि यह मैं स्वयं केवल अपने द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव से सत् रूप हूँ। मेरे में किसी अन्य का प्रवेश नहीं। मैं स्वयं में स्वयं का ही सहज भाव रखे हुए अनादि अनन्त हूँ, मेरा किसी से क्या सम्बन्ध। किसको सोचना किसको याद करना, किसे समझाना, किसमें इज्जत चाहना? मैं स्वयं एकाकी अपने आपके स्वरूप को लिए हुए बस यही पूर्ण में हूँ। इस ओर दृष्टि है और इस दृष्टि के होने से अद्भुत आनन्द उत्पन्न होता है। उस आनन्द का बल है कि वे अपने आपमें अकेले में रमते रहते हैं। भव के अन्त करने का एक यही उपाय है, दो ही तो स्थितियाँ हैं— या तो जन्म मरण करते चले जावो या जन्ममरण से रहित होकर केवल स्वयं जैसा सहज हो वैसा रह जाओ। इन दो स्थितियों के अतिरिक्त और कोई बीच की स्थिति नहीं है। बीच की स्थिति कह सकते हो तो थोड़े समय का अरहंत भगवान की स्थिति कह लो, लेकिन उन्हें मुक्त ही कहा जाता है, संसारी नहीं कहा जाता। भले ही संसार में हैं, कुछ कर्म हैं, शरीर भी लगा है, अभी जीवन है, आयु का उदय है, लेकिन जहाँ घातिया कर्म नष्ट हो गए वहाँ अन्य मलों की गिनती नहीं है, केवलज्ञान अनन्त आनन्द जहाँ प्रकट हो गया है वह तो प्रभु ही है, मुक्त ही है, सिद्ध ही समझिये। तो दो प्रकार की स्थितियाँ होती हैं। सो भैया ! कम से कम इतनी तो छॉट कर लें कि मेरे लिए कौनसी स्थिति हितकारी है? संसार की ये अनेक स्थितियाँ क्या मेरा हित कर सकेंगी? इज्जत में बढ गए, सैकड़ों लोग प्रशंसा कर रहे अथवा अधिकार बढ गया, या धन बढ गया परिवार अधिक है, ये सब इस मेरे आत्मा को क्या लाभ पहुँचाने वाले हैं? मैं तो अपने सत्त्व से अपने में ही उत्पादव्यय करता रहता हूँ, सम्बन्ध ही नहीं दूसरे से। तो कोई अन्य मेरा हित ही कैसे हो? अतः मुक्ति की छॉट कीजिये और एतदर्थ सदा मुक्त की शरण लीजिये।

**ज्ञाता व बाह्यज्ञेय में ज्ञानविषयक भी कर्तृकर्मत्व का अभाव—** भला जब मेरा बाह्य से इतना भी सम्बंध नहीं हो पाता कि मैं बाह्य पदार्थ को जानता हूँ तो बाह्य को जान रहा होऊँ सो भी बात नहीं, इतना तक भी सम्बंध



नहीं कि मैं किसी बाह्य पदार्थ को जानता तक होऊँ। मैं अपने आपमें जो परिणमन है उस रूप परिणमता हूँ, अपने को जानता हूँ। बाह्य को नहीं जानता। ज्ञान से जानता हूँ। ज्ञान मेरा मेरे प्रदेश में है। यह ज्ञान क्या बाहर जा जाकर जानता है? बाहर के पदार्थ वे अपने प्रदेश में हैं, परन्तु स्वरूप की महिमा विचित्र है। धन्य है जो यह मैं ज्ञानशीलपदार्थ अपने आपके प्रदेश में रहकर और अपने आपमें जानन परिणमन करता रहता हूँ। हाँ, जानन परिणमन हो रहा है उस प्रकार जहाँ कि पदार्थ है, बाह्य है, सत् है तभी तो 6 साधारण गुणों में प्रमेयत्व गुण बताया है कि सर्वपदार्थ में है प्रमेयत्व गुण। सर्वसत् प्रमेय हो ही जायेगा। अब उसका प्रमेयत्व उसमें है, हमारा ज्ञातृत्व हममें है, कैसा सम्बन्ध? आ गया ज्ञान में। सन्निधान की भी बात नहीं। जानन के मुकाबले में बाह्य में कुछ हो, यों सन्निधान की भी बात नहीं कि सामने चीज हो तो ज्ञान में आये, सत् हो तो ज्ञान में आये, जो भी सत् है। यह तो इस समय हम आपके आवरण की स्थिति है, जो अभिमुख और नियमित पदार्थों का ज्ञान हो पाता है इससे आभिनिबोधिक ज्ञान बताया गया है। यह मतिज्ञान का दूसरा नाम है। जो अभिमुख और नियमित पदार्थ का ज्ञान करे सो आभिनिबोधिक ज्ञान है। यह एक कैद की स्थिति है। पर वस्तुतः पदार्थ ज्ञान में आता है, सत् है सो आता है, यहाँ ऐसा स्वभाव है कि वह जानना रहे किसे जानता रहे? जो भी हो उसे। अपने आपके प्रदेश में रहकर ज्ञेयाकार परिणमन करता है और अपने में अपने को जानता है। मैं हूँ, ज्ञानमात्र हूँ और परम अध्यात्मदृष्टि से मैं ज्ञानमात्र हूँ और ज्ञान का जो परिणमन बन रहा, ज्ञेयाकार जो मेरा कार्य बन रहा, मैं हूँ और मेरा ज्ञान जो ज्ञान में ज्ञेयाकार परिणमन है उसी को साक्षात् जान रहा है। यह भी मैं ज्ञानमात्ररूप से हूँ, ज्ञेयाकार रूप नहीं हूँ। अन्य ज्ञेयाकार की बात नहीं कर रहे, बाह्य पदार्थों की चर्चा नहीं कर रहे क्योंकि मैं तो एक हूँ, ज्ञेयाकार अनेक हैं, मैं भी हूँ, अनेक नहीं हूँ। यह दिख रहा है अभी द्रव्यरूप से अभेदरूप से। पर्याय, परिणमन, अनेकत्व भी साथ लगा हुआ है। उस दृष्टि से देखने से वहाँ का भी बोध होता है। वस्तु का पूर्ण निर्णय तो कर लीजिए, परसाधना में अभेददृष्टि बनाइये। इस मुझ ज्ञानमात्र आत्मतत्त्व का जब बाह्य पदार्थों के साथ जानने का भी साक्षात् सम्बन्ध नहीं है तो मानना के ये मेरे लड़के हैं, यह मेरी स्त्री है, यह मेरा घर है, यह मेरा वैभव है आदि यह सब अंधकार है।

**प्रकाशक व प्रकाशमान के दृष्टान्त के द्वारा वस्तुस्वातन्त्र्य का दिग्दर्शन—** समयसार में जहाँ शिक्षा दी है कि निन्दा स्तुति आदि के ये वचन तो पौद्गलिक हैं। उनको सुनकर तू तुष्ट रुष्ट क्यों होता है? उसकी व्याख्या में श्री अमृतचन्द्राचार्य ने कहा है कि कितना स्वतंत्र तत्त्व बताया है दृष्टान्तपूर्वक कि जैसे यहाँ दुनिया में दिखता है कि देवदत्त ने यज्ञदत्त का हाथ पकड़कर जबरदस्ती मरोड़ दिया कि तुम अमुक काम करो, यहाँ पर भी जबरदस्ती नहीं है। देवदत्त ने यज्ञदत्त का हाथ पकड़ा हो, मरोड़ा हो वहाँ पर भी देवदत्त के आत्मा का परिणमन उसमें है, उसका निमित्त पाकर शरीर में जो हलन-चलन है वह उसमें है, हाथ मरोड़ा तो देवदत्त ने ही, मगर यज्ञदत्त का हाथ मरुड़ना उसका निमित्त सन्निधान पाकर हुआ है। अथवा जैसे इन्जन चलता है तो

लोग कहते हैं कि इस ड्राइवर ने इन्जन चलाया, लेकिन ड्राइवर आप कितने को मानोगे? उसका काम तो उतने में ही हुआ, पर हाँ निमित्तनैमित्तिक भाव का वहाँ लोप नहीं है उसकी सारी व्यवस्था बनी है, लेकिन वस्तु को देखो- प्रत्येक वस्तु अपने आपमें परिणत है। तो यह दीपक जो जलता है और जो पदार्थ प्रकाशित होते हैं तो पदार्थों ने देवदत्त यज्ञदत्त की तरह जबरदस्ती नहीं की कि हम सब अंधेरे में पड़े हैं, हमें प्रकाशित कर दो। रात के 7-8 बजे यदि ये टेबल, कुर्सी वगैरह दीपक पर जोर देकर कुछ खड़बड़ करते हों तो बताओ? नहीं करते और दीपक भी अपनी जगह छोड़कर कहीं किसी वस्तु को प्रकाशित करने नहीं जाता। जितनी वह ज्वलित दीपशिखा है वह शिखा वहाँ से चलकर क्या दूसरी वस्तुओं को प्रकाशित करने आती है? अरे उस दीपक में उस प्रकार का प्रकाश स्वभाव है और इन घटपट आदिक में इस प्रकार का प्रकाश स्वभाव है, उसके प्रकाश होने के अन्य साधन हैं, तो इन घटपट आदिक के प्रकाश होने में यह दीपक साधन है। दीपक अपने स्वरूप से प्रकाशित हो रहा है और उस समय स्वरूप से प्रकाशित होने की स्थिति में वह दीपक अपने में अपनी बात कर रहा है, मगर ये सब पदार्थ ऐसे ही स्वभाव के हैं कि उस ज्वलित दीपक का निमित्त पाकर ये स्वयं प्रकाशमान हो जाते हैं। देखिये- एक इस व्याख्या को कहीं न भूलें। जितने भी विभाव परिणमन हैं उनका नाम अनियत भाव है, वे सब परिणमन अनुकूल निमित्त सन्निधान पाकर उपादान में अपने प्रभाव से प्रभावित हुए हैं, उपादान में ऐसी कला है, ऐसी प्रकृति है।

**आत्मा का अपने कार्य में स्वातन्त्र्य का दिग्दर्शन—** उक्त उदाहरण की तरह यह आत्मा बाह्य अर्थ शब्द, रूप, रस, गंध, स्पर्श को जानता है यों कहते हैं, पर वस्तुतः ये शब्द आदिक इस आत्मा पर जबरदस्ती नहीं कर रहे कि हमको सुनो, देखो, सूँघो, छुओ, जानो। ये जितने द्रव्य गुण हैं वे तो हमारे ज्ञान में विषयभूत होते ये भी इस आत्मा को प्रेरित नहीं कर रहे और आत्मा भी अपने प्रदेश से हटकर तत्त्वों में आ आकर इनको जानता नहीं, किन्तु यह आत्मा स्वयं ही जान रहा है। ये पदार्थ अभिमुख हों अथवा न हों, और स्वरूप से जब यह जान रहा है तो ये सब ज्ञेय हैं, जानने के विषयभूत हैं। तो अब यहाँ यह देखें कि दीपक का निमित्त पाकर ये पदार्थ प्रकाशित हुए हैं तो इतने मात्र से कहीं ऐसा तो आपने नहीं देखा कि काला टेबल अगर प्रकाशित हो गया तो दीपक को भी काला बनना पड़े। ऐसा तो कहीं होता नहीं। तो यहाँ क्यों ऐसा हो रहा है कि यदि ज्ञान में ये इष्ट अनिष्ट पदार्थ आये, स्त्री पुत्रादिक आये या कुछ यहाँ इष्ट अनिष्ट बात गुजरी, बनी तो यहाँ पर भी खेद और विषाद होने लगा? वस्तुतः ऐसा सम्बन्ध नहीं है इस चेतना के साथ, लेकिन होता है। तो यह अज्ञान है। अज्ञान को अध्यास नाम से प्रसिद्ध किया है कुछ दार्शनिकों ने देहाध्यास और भी देखिये- अध्यास देह में, अध्यास क्रिया में और अध्यास कर्ता में। मैं अमुक चन्द हूँ, अमुक लाल हूँ, फलाने लाल हूँ, यह क्या है? अपने ज्ञायक को और पर्याय को एकमेक कर रखा है। यह तो देहाध्यास है। मैं करता हूँ, चलता हूँ, बोलता हूँ, यह क्या है? यह क्या क्रिया का अध्यास नहीं है?

अज्ञान मोह के विनष्ट होने पर राग द्वेषादि विभावों का सुगम विनाश— अपने अन्तः विशुद्ध तत्त्व को निरखें। तो जो सहज हो, पर के लागलपेट से दूर हो। लपेट तो बाह्य मल है और लाग अन्तरङ्ग मल है। इस लागलपेट से रहित केवल अपने सत्त्व के कारण जो कुछ हो सकता है उस स्वभाव को निरखिये— जानिये। अहा, इस दर्शन में ऐसा बल है कि जैसे कहते हैं कर्मों की कड़ियाँ टूट पड़ें। जैसे बच्चे लोग एक कथानक बोला करते हैं कि स्याल स्यालिनी एक जंगल में रहते थे। स्यालिनी के बच्चे होने थे सो स्याल से पूछा कि सिंह जगह बच्चे उत्पन्न किए जायें? तो कोई अच्छी जगह न मिलने पर स्याल ने किसी किसकी चुल में (गुफा में) बच्चे उत्पन्न करने के लिए कहा। स्यालिनी ने कहा— अगर कहीं सिंह आ गया तो? तो हम उसका भी उपाय बना लेंगे। क्या उपाय बना लोगे? देखो तुम बच्चों को रुला देना। हम पूछे कि ये बच्चे क्या मांगते हैं, तो तुम बोल देना कि ये बच्चे सिंह का मांस मांगते हैं, बस अपना काम बन जायेगा। अच्छी बात ! जब सिंह की गुफा में बच्चे पैदा हुए तो स्याल जो कि उस गुफा की चोटी पर बैठकर बच्चों की रक्षा कर रहा था उसने कई बार अनेक सिंहों को वहाँ आते हुए देखा, पर जहाँ ही सिंह आवे वहाँ स्यालिनी बच्चों को रुला देती थी, ऊपर से स्याल पूछता था कि बच्चे क्यों रोते हैं? तो वह स्यालिनी नीचे से बोल उठती थी कि ये बच्चे बहुत भूखे हैं, सिंह का मांस मांगते हैं। बस इतनी बात सुनकर सभी सिंह डरकर वहाँ से भाग जाते थे। सोचते थे- ओह ! मेरा भी खाने वाला यहाँ कोई रहता है। कुछ दिन बाद सभी सिंहों ने सलाह की कि जरा वहाँ चलकर देखें तो सही कि अपन लोगों को भी खा जाने वाला कौन है? सो जब वहाँ पहुँचे तो समझ गए कि यह सब करतूत इस ऊपर बैठे हुए स्याल की है। बस इसको पकड़कर मार डालना चाहिए। पर अब स्याल मिले कैसे? सोचा कि अपन लोगों में से एक दूसरे पर चढ़ चढ़कर उसके पास तक पहुँचें और ऊपर वाला सिंह उसे वहाँ से पकड़ फेंके। परन्तु नीचे कौन सिंह रहे? सो सलाह हुई कि अपन में से जो एक लंगड़ा शेर है, वह ऊपर तो चढ़ नहीं सकता, उसको नीचे रखना चाहिए। ठीक है। वह लंगड़ा सिंह नीचे झुक गया और उसके ऊपर बारी-बारी से एक पर एक सिंह चढ़ता गया। जब ऊपर का सिंह स्याल तक पहुँचने वाला ही था तब ही स्यालिनी ने बच्चों को रुला दिया, स्याल ने पूछा कि ये बच्चे क्यों रोते हैं? तो स्यालिनी बोली- ये बच्चे बहुत भूखे हैं, लंगड़े शेर का मांस मांगते हैं। इस बात को जब लंगड़े शेर ने सुना तो डाकर भागा। सभी शेर एक दूसरे पर भगदड़ करके गिर गए। तो यों ही समझिये कि ये राग द्वेषादिक विकार हम आपके अध्यवसान पर जगह हुए हैं, यह अध्यास नीचे से खिसके तब फिर ये रागद्वेष, शोक, चिन्ता आदिक परिणाम भगदड़ करके गिरेंगे, इनकी रक्षा करने वाला कोई न होगा। हमें यत्न करना है उस सहज अंतस्तत्त्व में प्रवेश करने का। उपयोग में वह समाया रहे।

स्वच्छता व वीतरागता का प्रभाव— धन्य हैं वे जीव, पूज्य हैं वे जीव जिनके उपयोग में इस अन्तःस्वभाव का उपयोग बना रहे। अरहंत भगवान के वंदन पूजन के लिए कितना जमाव हो जाता है? स्वर्ग खाली हो रहा,

देवताओं की भीड़ निकल रही है मनुष्य बड़े-बड़े चक्री तक भी जा रहे हैं। अरे ये मेंढक, सर्प, नेवला आदिक भी जा रहे हैं। ऐसी कौनसी कला है? कैसा जादूगर आया कि पशु पक्षी जिनकी शरण के लिये भाग रहे हैं, सभी जीव जिनकी ओर आकर्षित हो रहे हैं? अरे वे तो किसी से बोलते भी नहीं, वे तो अपने स्वरूप में ही प्रतिष्ठित हैं, शुद्ध हो गए हैं, स्वच्छ हो गए हैं, केवल रह गए हैं। अब रागद्वेष नहीं रहा, किसी को अपना, किसी को पराना, यह बात अब उनमें नहीं रही, सो उनकी ऐसी अलौकिक महिमा है कि बिना जादू किए ही सारा संसार उनके चरणों में न्यौछावर हो रहा है। और यहाँ राग द्वेष करके कोई प्रयत्न तो करे कि सबको अपना बना लें, कर ही नहीं सकता कोई। होगा ही नहीं। तो इन जीवों में भी ऐसी प्रकृति है कि वे वीतरागता और स्वच्छता की ओर स्वभावतः ढलते हैं। इससे इतना तो स्पष्ट होता है। कैसा ही कोई मोही हो, मलिन हो, कैसा ही हो, जिसमें मन है वह आखिर शुद्ध ज्ञान और वैराग्य की ओर किसी न किसी ढंग में उसके ढलने की प्रकृति पड़ी हुई है। जैसे कहते हैं कि बड़े बर्तन में खिचड़ी बनाया हो, सारी खिचड़ी खाली हो गई फिर भी अगल-बगल में उतनी खिचड़ी निकल ही आयगी जितनी एक आदमी का पेट भर सके। तो ऐसे ही यह विशाल आत्मा कितना ही मलिन हो, कितने ही राग द्वेष हों, कुछ भी विकार परिणतियाँ हो रही हों, फिर भी यह बानगी सबमें पड़ी हुई है कि यदि वीतराग केवल ज्ञानी शुद्ध विशुद्ध परमात्मतत्त्व का दर्शन हो या कहीं कोई ऐसे अरहंत भगवान मिलें, कुछ हो तो सभी का चित्त चाहेगा किसी न किसी रूप में आकर्षण होता है। यह आकर्षण किसका है? प्रभु का नहीं। स्वयं खुद में बात पड़ी हुई है, स्वभाव पड़ा हुआ है, स्वयं की बात है कि खिंचते चले जाते हैं।

**एकत्वविभक्त अन्तस्तत्त्व के उपयोग की शरणरूपता—** जानना यह है कि मेरा स्वयं का किसी से भी कोई सम्बंध नाता नहीं है। नाता सम्बन्ध मानकर हम स्वयं दुःखी होते हैं, क्लिष्ट होते हैं। अपने आपके स्वरूप को जानें पहिचानें और उसे निरख करके प्रसन्न रहने का उद्देश्य बनायें। ये योगीजन ये चक्री लोग छह खण्ड का वैभव छोड़कर हजारों रानियाँ त्यागकर कैसे-कैसे विलास, वैभव साधन उनका परित्याग कर जंगल में कंकरीली जमीन में, कटीले स्थान में, बनचरों से भरी हुई जगह में या किसी भी जगह, जहाँ कोई दूसरा सहाय नहीं है वहाँ भी वे प्रसन्न रहा करते हैं। उनकी उस प्रसन्नता का कारण क्या है? वह कारण है निज परमात्मतत्त्व का मिलना। उसकी प्राप्ति के लिए हम व्यवहारनय के उपयोग से निश्चयनय की बात जानकर उससे भी परे होकर एक अपने शुद्ध स्वभाव की उपासना में लगे, ऐसा यत्न हो तो हम खुद अपने लिए शरण हो जायेंगे अन्यथा यह जन्म मरण संसार जो कि अनादिकाल से चला आ रहा है, वही चलता रहेगा। यही प्रमाद का फल होगा।

॥अध्यात्मसहस्री प्रवचन पञ्चम भाग समाप्त॥